सभी वस्तुओं में ईश्वर-बुद्धि करो,
समझो कि ईश्वर सब में है।

— स्वामी विवेकानन्द

विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष : २९ अंक ४

रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

निर्माण कार्य जैसा भी हो
सेन्चुरी सीमेन्ट
सर्वोत्तम है
CENTURY'S
VISHWAKARMA
PORTLAND CEMENT
50 Kg. Nett.
सेन्चुरी सीमेन्ट द्वारा उत्पादित
'विश्वकर्मा' ब्राण्ड सीमेन्ट
शक्तिशाली पकड़ एवं दीर्घकालीन
टिकाऊपन के लिए विश्वसनीय सीमेन्ट है।
निर्माता-सेन्चुरी सीमेन्ट
पो. आ. बैकुण्ठ -493116 जिला: रायपुर (म.प्र.)
टेलेक्स: 0775-225 CCBIN ★ टेलीग्राम: 'CENCEMENT'
फोन: 23, 24, 25, 27, 28, 30, 34, 39.
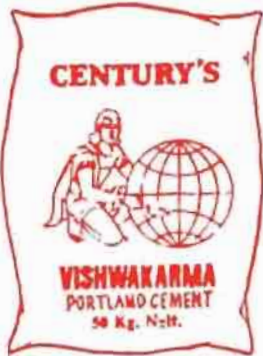
विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर—नवम्बर—दिसम्बर

* १९९१ *

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सह-सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी त्यागात्मानन्द

वार्षिक १०)

वर्ष २९
अंक ४

एक प्रति ३)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) २००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर-४९२ ००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २४५८९

ग्राहकों से निवेदन

(१) **कागज, छपाई तथा डाक के दरों में अतीव वृद्धि हो जाने के कारण हमें विवश होकर 'विवेक-ज्योति' का वार्षिक शुल्क १०/- से बढ़ाकर १५/- करना पड़ रहा है। उसी प्रकार फुटकर अंक का दाम भी अब ३/- के स्थान पर ४।।/ होगा। यह दर जनवरी १९९२ से लागू होगी। आशा है 'विवेक-ज्योति' के प्रेमी हमारी इस मजबूरी को समझकर हमें पूर्ववत् ही सहयोग देते रहेंगे।**

(२) जिन ग्राहकों का वार्पिक चन्दा इस चतुर्थ अंक के साथ समाप्त हो रहा है, वे कृपया अगले वर्ष के लिए अपने चन्दे का १५/- संलग्न मनीआर्डर फार्म द्वारा भिजवा दें। आप में से जिनका संपूर्ण चंदा जमा नहीं हैं, वे भी कृपया संलग्न मनीआर्डर फार्म में दर्शायी बकाया राशि भेजकर वर्ष की अपनी समस्त प्रतियाँ सुरक्षित करवा लें।

(३) गाहकों से निवेदन है कि वे मनीआर्डर के कूपन में भी अपना नाम और पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। पुराने ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या का भी अवश्य उल्लेख करें तथा नये ग्राहक लिख दें---"नया ग्राहक"। यदि पुराने ग्राहकों को अपनी ग्राहक-संख्या का स्मरण न हो, तो वे कृपया लिखें---"पुराना ग्राहक"।

(४) जिन ग्राहकों को प्राय: डाक की अव्यवस्था के कारण पत्रिका कें नं मिलने की शिकायत रहती है, उनसे अनुरोध है कि वे यदि प्रति अंक २/०० का अतिरिक्त व्यय वहन करके पत्रिका वी.पी. से मँगवाएँ, तो सभी अंक उन्हें सुरक्षित मिल

जाएँगे । ग्राहकों पर यह अतिरिक्त व्यय-भार पड़ने का हमें दुःख है, पर पत्रिका की सुरक्षित प्राप्ति का यही सरल उपाय है। आशा है आप हमें इसमें सहयोग देंगे । जिन ग्राहकों को हमारा यह सुझाव मान्य है, वे कृपया हमें इसकी सूचना दें ।

(५) पत्र लिखते समय अपनी ग्राहक-संख्या तथा अपने नाम एवं पूरे पते का स्पष्ट रूप से अवश्य उल्लेख करें ।

व्यवस्थापक,
'विवेक-ज्योति'

卐

एजेण्ट चाहिए !

'विवेक-ज्योति' के स्वस्थ, उदात्त एवं शक्तिदायी विचारों के व्यापक प्रचार एवं प्रसार को व्यवस्थित करने के हेतु स्थान-स्थान पर इसकी नयी एजेंन्सियाँ देने का निश्चय किया गया है। हमारे इस महत् कार्य में सहयोग देने के लिए कोई भी अपना पंजीकरण करा सकता है। एजेन्सी के नियमों तथा शर्तों की जानकारी प्राप्त करने के लिए लिखें--

व्यवस्थापक, 'विवेक-ज्योति'

अनुक्रमणिका

१. योगी का मनोभाव १
२. अग्नि-मंत्र (विवेकानन्द के पत्र) २
३. चिन्तन–८ (जीवन का प्रयोजन)
(स्वामी आत्मानन्द) ७
४. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग (३६ वाँ प्रवचन)
(स्वामी भूतेशानन्द) १०
५. मानस-रोग १५/२ (पं. रामकिंकर उपाध्याय) २१
६. जागृति के सन्देशवाहक : स्वामी विवेकानन्द ४०
(स्वामी आत्मानन्द)
७ स्वामी सुबोधानन्द से वार्तालाप (जगन्नाथ बसुराय) ४६
८. उठो ! त्याग की ज्योति जला दो
(स्वामी सत्यरूपानन्द) ५६
९. भगिनी निवेदिता : एक श्रद्धांजलि
(स्वामी वीरेश्वरानन्द) ६५
१०. स्वामी ब्रह्मानन्द के संस्मरण
(स्वामी निर्वाणानन्द) ७०
११. शान्ति (कविता) (स्वामी विवेकानन्द) ९२
१२. स्वामी विवेकानन्द और अश्विनीकुमार दत्त
(स्वामी विदेहात्मानन्द) ९४
१३. माँ के सान्निध्य में–२४ (स्वामी ईशानानन्द) १०९
१४. स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश १२१
१५. संवाद और सूचना १२८

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २९] अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर [अंक ४

★ १९९१ ★

योगी का मनोभाव

चण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथ किं तापसः
किं वा तत्त्वविवेकपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि किम् ।
इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैराभाष्यमाणा जनै—
र्न क्रुद्धाः पथि नैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः ।।

"यह कोई अस्पृश्य चाण्डाल है अथवा ब्राह्मण, शुद्र है अथवा तपस्वी, या फिर कहीं यह कोई तत्त्वविवेक से युक्त महायोगी तो नहीं है।" वातुल जनों के इस प्रकार के अटकल तथा सन्देहपूर्ण उक्तियों को सुनकर योगी न तो रुष्ट और न ही तुष्ट होते हुए अपने पथ पर चला जाता है।

—भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्' ९६

अग्नि-मंत्र

(मैसूर के महाराज को लिखित)

शिकागो

२३ जून, १८९४

महाराज,

श्री नारायण आपका और आपके कुटुम्ब का मंगल करें। आपकी उदार सहायता से ही मेरा इस देश में आना सम्भव हो सका। यहाँ आने के बाद से यहाँ के लोग मुझे खूब जान गये हैं और इस देश के अतिथिपरायण अधिवासियों ने मेरे सब अभाव दूर कर दिए हैं। यह एक अद्भुत देश है और यह राष्ट्र भी कई बातों में अद्भुत है। यहाँ के लोग अपने दैनन्दिन जीवन में जितने कलपुर्जों का व्यवहार करते हैं, उतना अन्यत्र कहीं नहीं होता। यहाँ सर्वत्र मशीन ही मशीन है। फिर देखिये, ये लोग सारे संसार की जनसंख्या के पाँच प्रतिशत मात्र हैं। तो भी ये संसार की कुल सम्पदा के पूरे षष्ठांश के मालिक हैं। इनकी धन-सम्पदा तथा विलास की सामग्रियों का कोई अन्त नहीं। तो भी यहाँ सभी चीजें बड़ी महँगी हैं। श्रमिकों की मजदूरी यहाँ दुनिया के सब स्थानों से ज्यादा है, तथापि मजदूरों और पूँजीपतियों के बीच झगड़ा सदा चलता ही रहता है।

अमेरिका की महिलाओं को जितने अधिकार प्राप्त हैं, उतने दुनिया भर में और कहीं की महिलाओं को प्राप्त नहीं। धीरे-धीरे वे सब कुछ अपने अधिकार में करती जा रही हैं और आश्चर्य की बात तो यह है कि शिक्षित पुरुषों की अपेक्षा यहाँ शिक्षित स्त्रियों की संख्या कहीं

अधिक है। पर हाँ, उच्चतर प्रतिभाओं में अधिकांश पुरुष ही हैं। पाश्चात्यवासी हमारे जाति-भेद की चाहे जितनी समालोचना करें, पर उनके भी बीच एक जाति भेद है, जो हमारे यहाँ से भी बुरा है—और वह है, अर्थगत जाति-भेद। अमेरिकी जिसे सर्वशक्तिमान डालर कहते हैं, वह यहाँ सब कुछ कर सकता है।

यहाँ जितने कानून हैं संसार के अन्य किसी देश में उतने नहीं हैं। पर यहाँ उनकी जितनी कम परवाह की जाती है, उतनी अन्यत्र कहीं भी नहीं की जाती। सब ओर से देखने पर हमारे गरीब हिन्दू लोग किसी भी पाश्चात्य देशवासी से लाखों गुने अधिक नैतिक हैं। धर्म के विषय में यहाँ के लोग या तो मिथ्याचारी होते हैं या मतान्ध। विचारशील लोग अपने अन्धविश्वासपूर्ण धर्मों से ऊब गये हैं और नये आलोक के लिए भारत की ओर देख रहे हैं। महाराज, आप स्वयं इस बात को बिना प्रत्यक्ष देखे नहीं समझ पायेंगे कि आधुनिक विज्ञान के प्रचण्ड आक्रमणों के सम्मुख अप्रतिहत रहकर उसका प्रतिरोध करनेवाले पवित्र वेदराशियों के उदार विचार-समूहों के किञ्चिन्मात्र अंश को ये लोग किस आग्रह के साथ ग्रहण करते हैं। शून्य से सृष्टि का होना, आत्मा का एक सृष्ट पदार्थ होना, स्वर्ग नामक स्थान में सिंहासन पर बैठे हुए एक अत्याचारी ईश्वर तथा अनन्त नरकाग्नि का अस्तित्व, इन सब मतों से यहाँ के सभी शिक्षित लोगों का जी ऊब गया है और सृष्टि एवं आत्मा के अनादित्व तथा परमात्मा की हमारी अपनी आत्मा में अवस्थिति सम्बन्धी वेदों के उदात्त भावों को वे शीघ्र ही किसी न किसी रूप में ग्रहण कर रहे हैं। पचास वर्ष के भीतर ही

संसार के सभी शिक्षित लोग आत्मा तथा सृष्टि, दोनों के अनादित्व पर विश्वास करने लगेंगे और ईश्वर को हमारा ही उच्चतम और परिपूर्ण रूप मानने लगेंगे, जैसा कि हमारे पवित्र वेदों की शिक्षा है। अभी से ही उनके विद्वान् पादरियों ने बाइबिल की उस प्रकार से व्याख्या करनी आरम्भ कर दी है। मेरा निष्कर्ष यह है कि उन्हें और भी धार्मिक सभ्यता की तथा हमें और भी अधिक ऐहिक एवं भौतिक शिक्षा की आवश्यकता है।

गरीबों की दुर्दशा ही भारतवर्ष के सभी अनर्थों की जड़ है। पाश्चात्य देशों के गरीब तो निरे दानव हैं, उनकी तुलना में हमारे यहाँ के गरीब देवता हैं। और इसीलिए हमारे गरीबों की उन्नति करना सहज है। अपने निम्न वर्ग के लोगों के प्रति हमारा एकमात्र कर्तव्य है – उनको शिक्षा देना, उनके खोए हुए व्यक्तित्व का विकास करना। हमारे जनसाधारण और राजाओं के बीच यही एक बहुत बड़ा कार्य पड़ा है। इस दिशा में अब तक कुछ भी नहीं हुआ है। पुरोहितों की शक्ति और विदेशी आक्रमण सदियों से उन्हें कुचलती रहे हैं, जिसके फलस्वरूप भारत के गरीब बेचारे भूल गये हैं कि वे भी मनुष्य हैं। उन्हें विचार देने होंगे। उनके चारों ओर दुनिया में कहाँ क्या हो रहा है, इस सम्बन्ध में उनकी आँख खोल देनी होंगी; और तब अपना उद्धार वे स्वयं कर लेंगे। प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक नारी को अपना उद्धार स्वयं ही करना होगा। उन्हें विचार दे दो– उन्हें एकमात्र इसी सहायता की जरूरत है और इसके फलस्वरूप बाकी सब कुछ अपने आप ही हो जायगा। हमें केवल रासायनिक पदार्थों को इकट्ठा भर कर देना है, रवा बँध जाना तो

प्राकृतिक नियमों से ही साधित होगा । उनके दिमागों में विचार भर देना मात्र हमारा कर्तव्य है– बाकी वे स्वयं कर लेंगे । भारत में बस यही करना है । बहुत समय से यही विचार मेरे मस्तिष्क में काम कर रहा है । भारत मे इसे मैं कार्य रूप में परिणत नहीं कर सका और यही कारण था कि मैं इस देश में आया । गरीबों को शिक्षा देने में मुख्य बाधा यह है – मान लीजिए महाराज, आपने हर गाँव में एक नि:शुल्क पाठशाला खोल दी, तो भी कुछ काम न होगा, क्योंकि भारत में गरीबी ऐसी है कि गरीब लड़के पाठशाला में आने के बजाय खेतों में अपने माता-पिता को मदद देने या किसी दूसरे उपाय से रोटी कमाने जाएँगे । अत: यदि पहाड मुहम्मद के पास न आये तो मुहम्मद को ही पहाड़ के पास जाना पड़ेगा । अगर गरीब लड़का शिक्षा ग्रहण करने के लिए न आ सके, तो शिक्षा को ही उसके पास जाना पड़ेगा ।

हमारे देश में हजारों निष्ठावान और त्यागी संन्यासी हैं, जो गांव-गांव में धर्म की शिक्षा देते फिरते हैं । यदि उनमें से कुछ को सांसारिक विषयों के शिक्षकों के रूप में भी संगठित किया जा सके तो गाँव-गाँव, दरवाजे-दरवाजे पर जाकर वे केवल धर्म शिक्षा ही नहीं देंगे बल्कि ऐहिक शिक्षा भी दिया करेंगे । कल्पना कीजिए कि इनमें से दो व्यक्ति एक मैजिक लैन्टर्न, एक ग्लोब और कुछ नक्शे आदि लेकर शाम को किसी गाँव में जाते हैं । वे अपढ़ लोगों को गणित, ज्योतिष और भूगोल की बहुत कुछ शिक्षा दे सकते हैं । वे गरीब पुस्तकों से जीवन भर में जितनी जानकारी न पा सकेंगे, उससे सौगुनी अधिक वे उन्हें बातचीत के माध्यम से विभिन्न देशों के बारे में कहानियाँ सुनाकर दे

सकते हैं। इसके लिए एक संगठन की आवश्यकता है और वह भी धन पर निर्भर करता है। इस योजना को कार्य रूप में परिणत करने के लिए भारत में मनुष्य तो बहुत हैं, पर हाय! वे निर्धन हैं। एक चक्र को चलाना बड़ा कठिन काम है, पर एक बार अगर वह गतिशील हुआ तो क्रमशः अधिकाधिक वेग पकड़ने लगता है। अपने देश में सहायता पाने का प्रयत्न करके जब मैंने धनिकों से कुछ भी सहानुभूति न पायी, तब महाराज, मैं आपकी सहायता से इस देश में आ गया। अमेरिकावासियों को इस बात की कुछ भी परवाह नहीं कि भारत के गरीब जीते हैं या मरते हैं। और भला वे परवाह भी क्यों करें, जब हमारे अपने ही देशवासी अपने स्वार्थ के सिवाय और किसी की चिन्ता नहीं करते?

महामना राजन्, यह जीवन क्षणस्थायी है, संसार के भोग-विलास क्षणभंगुर हैं और वास्तव में वे ही जीवित हैं, जो दूसरों के लिए जीवित हैं। बाकी लोग तो जीवित की अपेक्षा मृत ही अधिक हैं। महाराज, आप जैसे एक उन्नत महामना राजपुत्र भारत को फिर से अपने पैरों पर खड़ा कर देने के लिए बहुत कुछ कर सकते हैं और इस तरह भावी पीढ़ियों के लिए एक ऐसा नाम छोड़ कर जा सकते हैं, जो पूजित होता रहेगा।

प्रभु आपके महान हृदय में भारत के उन लाखों नर-नारियों के लिए गहरी सहानुभूति पैदा कर दें, जो अज्ञता में डूबे दुःख झेल रहे हैं– यही मेरी प्रार्थना है।

भवदीय,

विवेकानन्द

चिन्तन (८)

जीवन का प्रयोजन

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्‌बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। पाठकों के अनुरोध पर उन्हें 'विवेक-ज्योति' में क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है। प्रस्तुत लेख 'आकाशवाणी' रायपुर से साभार गृहीत है।–स.)

जीवन के प्रयोजन पर दो दृष्टियों से विचार किया गया है। पहली दृष्टि जड़वादी दृष्टि है। विज्ञान इस दृष्टि का प्रतिनिधित्व करता है। तथा दूसरी आध्यात्मिक दृष्टि है। भारत की तत्त्वमीमांसा और विशेषकर वेदान्त में यह दृष्टि निबद्ध है। जीवन के सूक्ष्मतर रहस्यों के क्षेत्र में विज्ञान की कोई गति नहीं है, इसीलिए वह जीवन के प्रयोजन पर तात्त्विक दृष्टि से विचार नहीं कर सकता। जो लोग भौतिकवादी विचारधारा रखते हैं, वे इस जन्म को तथा जीवन की समस्त घटनाओं को आकस्मिक माना करते हैं। भारत में भी ऐसे जड़वादी चार्वाक रहे हैं, जिन्होंने इस जीवन के आगे-पीछे कुछ भी नहीं देखा। वे तो यहाँ तक कह गये—"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।"—जब तक जीओ, मौज से जीओ। यदि उसके लिए उधार लेकर घी पीने की आवश्यकता हो, तो वह भी करो। एक बार देह के भस्मीभूत हो जाने पर आने का सवाल ही कहाँ है?

अनेक भौतिकवादियों ने इस जीवन को आकस्मिक माना। वे इसका कोई लक्ष्य या उद्देश्य नहीं देख पाये।

पर आज का विज्ञान किसी घटना को आकस्मिक नहीं कहता। यदि कोई बात 'आकस्मिक' दिखाई देती है तो केवल इसलिए कि हम उसके पीछे छिपे नियम को जानने में असमर्थ हैं। इसी प्रकार आज का विज्ञान भी जीवन को निरुद्देश्य नहीं मानता। हम प्रवाह-पतित तिनके नहीं हैं कि जिधर हमें प्रवाह बहा ले जाय, बहते रहेंगे। आज कोई भी व्यक्ति अपने जीवन को लक्ष्यहीन नहीं मान सकता। पैसा कमाना और धन संचय करना, परिवार का पालन-पोषण करना, समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करना——यह सब जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। यह तो पशु-पक्षी भी करते हैं। चींटियाँ संग्रह करती हैं, पशु-पक्षी अपने परिवार का पालन-पोषण करते हैं। पशु भी अपने दल का नेता होना पसंद करते हैं। यदि मनुष्य भी इन्हीं सब को स्पृहणीय माने तो उसमें और पशु में क्या भेद? संस्कृत के एक सुभाषित में कहा गया है——
"आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषः तेनैव हीनाः पशुभिः समानाः।"
—आहार, निद्रा, भय और प्रजनन की वृत्तियाँ पशुओं और मनुष्यों में समान हैं। मनुष्यों में धर्म की वृत्ति अधिक या विशेष हुआ करती है। यदि मनुष्य धर्म की वृत्ति से हीन हो जाय तो वह पशु के ही समान है।

यह धर्म ही मनुष्य में विशेषता लाता है। पशु अपने मन का नियंत्रण नहीं कर सकता। वह अपनी गतिविधियों का साक्षी नहीं बन सकता क्योंकि वह अपनी सहज प्रवृत्तियों के द्वारा परिचालित होता है। पर मनुष्य का मन इतना विकसित है कि वह अपनी क्रियाओं को समझने और पकड़ने में समर्थ होता है, वह

मानों सहज ही हटकर अपनी क्रियाओं को देख सकता है। यही उसकी विशेषता है। पर यह विशेषता आज उसमें सम्भावना के रूप में छिपी है। यह सम्भावना जितनी मात्रा में प्रकट होती है, उतनी मात्रा में मनुष्य अपनी विकास-यात्रा का स्वामी होता जाता है और जिस दिन वह इस सम्भावना को पूरी तरह प्रकट कर लेता है, उस दिन वह पूर्ण बन जाता है, बुद्ध बन जाता है, कृष्ण और ईसा बन जाता है, रामकृष्ण बन जाता है, सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। उसके जीवन में तब विकास-क्रम की पूर्णता साधित हो जाती है। लिंकन बार्नेट अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द युनिवर्स एण्ड डॉक्टर आइंस्टीन' में लिखते हैं कि मनुष्य अपनी इस सम्भावना से अपरिचित होने के कारण ही अशान्ति और दुःख का शिकार है। उनके अनुसार मनुष्य की 'noblest and most mysterious faculty'—सबसे उदात्त और रहस्यमय क्षमता हैं — 'The possibility to transcend himself and perceive himself in the act of perception'— अपने को लांघकर देखने की इस क्रिया में अपने आपको देखने की सामर्थ्य। मनुष्य की इसी क्षमता को हम धर्म की भाषा में साक्षीभाव के नाम से पुकारते हैं। पशु में यह क्षमता नहीं होती। जिस उपाय से मनुष्य अपनी इस छिपी क्षमता को अभिव्यक्त करता है उसे 'धर्म' के नाम से संबोधित करते हैं। अपनी इसी क्षमता का प्रकाशन मानव जीवन का चिर प्रयोजन है।

❋

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

छत्तीसवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीरामकृष्ण-कथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्ण-कथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशन किया गया हैं। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। —स.)

गिरीश के मकान में भक्तों से घिरे हुए ठाकुर भगवतत्प्रसंग कर रहे हैं। मास्टर महाशय से कहते हैं, "मैं यह प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, विचार अब और क्या करना है? मैं देख रहा हूँ, वे ही सब कुछ हुए हैं—वे ही जीव और जगत् हुए हैं।" ठाकुर को प्रत्यक्ष उपलब्धि हुई, उस पर अब वे विचार क्या करेंगे? विचार के द्वारा दूसरों के सन्देह का निवारण होता है, किन्तु जिसने प्रत्यक्ष देखा है, उसे तो सन्देह होता ही नहीं। चैतन्य की उपलब्धि हुए बिना चैतन्य को जाना नहीं जा सकता। चैतन्य को जानना अर्थात् बोध में बोध होना। यह बात ठाकुर ने अन्यत्र कही है। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' - जो ब्रह्मज्ञ है, वह ब्रह्म ही है। अतः एक व्यक्ति दूसरे को जानेगा ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता। चैतन्य यदि कभी अपनी उपलब्धि करेगा

तो चैतन्य होकर ही करेगा। किसी दूसरे उपाय से वह हो नहीं सकता। जब भी हम चैतन्य को जानने की चेष्टा करते हैं, तब अन्य वस्तु को उसके साथ मिलाकर वस्तु के रूप में, बहिर्जगत के रूप में अन्तःकरण या मनोधर्म के रूप में अपने सुख-दुख के साथ संश्लिष्ट रूप में जानने का प्रयास करते हैं।

शुद्ध ब्रह्म या आत्मा को इस प्रकार नहीं जाना जा सकता। स्वयं वह वस्तु हो जाने पर ही उसे जाना जा सकता है; अथवा यों कहें कि उसे जानना, और वही हो जाना—दोनों एक ही बात है। केवल कहने मात्र से नहीं होगा कि मैं सत्य को देख रहा हूँ। सत्य के तद्रूप होकर उसे जानना होगा। तभी वास्तविक जानना होगा, जिसे हम चैतन्य की उपलब्धि कहते हैं।

ब्रह्मज्ञ के लक्षण

यह चैतन्य-लाभ स्वसंवेद्य है। मुझे जो चैतन्य-लाभ हुआ है, उसे मैं दूसरों के सामने व्यक्त नहीं कर सकता। कोई दूसरा मेरे इस अनुभव को समझ नहीं सकेगा। स्वयं को समझ लेना होगा कि मैं ज्ञान में प्रतिष्ठित हुआ हूं। ठाकुर ने बहिरंग दृष्टि से लक्षण दिखलाकर और एक बात कही, "चैतन्य-लाभ करने पर समाधि होती है, कभी-कभी देह भी भूल जाती है, कामिनी और कांचन पर आसक्ति नहीं रह जाती, ईश्वरी बातों के सिवा और कुछ नहीं सुहाता, विषय की बातें सुनकर कष्ट होता है।" श्रीरामकृष्ण के मतानुसार यह सब चैतन्य में प्रतिष्ठित मनुष्य का स्वभाव है। कहना न होगा कि वह अवस्था इतनी गहन, इतनी अन्तरंग है कि उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। जैसे ब्रह्म अव्यक्त है, उसी तरह

ब्रह्मज्ञ भी अपने ब्रह्मज्ञान को व्यक्त नहीं कर सकते। तथापि बाहर के कतिपय लक्षण देखकर समझा जाता है कि ये ब्रह्मज्ञ हैं। उन्हीं में से कुछ लक्षणों को उन्होंने यहाँ पर बतलाया है। समाधि होने का अर्थ है. ज्ञान में पूरी तौर से स्थित होना, आत्मा को सम्यक् रूप से ब्रह्म में स्थापित करना अथवा ब्रह्म रूप में परिणत होना या तद्रूपता की उपलब्धि करना। हम लोगों की दृष्टि में समाधि का अर्थ है. बाह्य ज्ञान का लोप हो जाना। मन जब बाह्य वस्तुओं को भूलकर आत्मा में निविष्ट हो जाता है. तब चित्तवृत्तियों के निरोध की यह अवस्था समाधि का प्रथम स्तर है – देह को भूल जाना। ठाकुर कहते हैं, 'बीच-बीच में शरीर का विस्मरण हो जाता है।' बीच-बीच में इसलिए कि ज्ञानी व्यक्ति का भी जगत् के साथ व्यवहार होता है, अतः जगत् पूर्णतः विस्मृत हो जाने से काम नहीं चलेगा। नहीं तो व्यवहार नहीं हो सकता। 'काम-कांचन में अनासक्ति" – यह बात ब्रह्म-ज्ञानियों के आचरण को देखकर ही समझनी होगी। ज्ञान में प्रतिष्ठित व्यक्ति के सान्निध्य लाभ का सौभाग्य जिन्हें प्राप्त हुआ है, वे ही इन बातों को थोड़ा-बहुत समझ पाए हैं। यह संयोग अत्यन्त दुर्लभ है, भगवत्कृपा के बिना इस तरह का अपूर्व जीवन देखने को नहीं मिलता।

ठाकुर के सन्तानों की कृपा से हमें जो उनके सान्निध्य में आने का सौभाग्य मिला था, उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि देह तक विस्मरण हो जाना हमने ठाकुर के सन्तानों में देखा है; अन्यत्र कहीं भी यह देखने को नहीं मिला। इस विषय में सार्वजनिक रूप से कुछ कहना ठीक नहीं लगता, क्योंकि इस तरह की बातें

साम्प्रदायिक जैसी लग सकती हैं। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि ऐसा व्यक्तित्व केवल उन्हीं तक सीमित है, अन्यत्र देखने को नहीं मिलेगा। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसे लोगों का दर्शन दुर्लभ है। भारत में विभिन्न स्थानों में भ्रमण करते समय मैं अनेक साधु-सम्प्रदायों के सम्पर्क में आया हूँ, लेकिन यह जो 'सब कुछ भूल जाना' आत्म विस्मृति, देह बोध तक भूल जाना – ऐसा देखने का सुयोग कहीं नहीं मिला।

ठाकुर इन सब बातों का उल्लेख करते हुए अपने ही चरित्र का वर्णन कर रहे हैं, ताकि उनके दृष्टान्त से सभी लोग समझ सकें। हम लोगों ने ठाकुर को तो नहीं देखा, तथापि उनके सन्तानों में इस भाव को प्रकट होते कई बार देखा है। जिन लोगों ने उनका चरित्र पढ़ा है, उन्हें भी मालूम है कि उनके भीतर किस प्रकार यह भाव प्रकाशित होता था। हमेशा होता था, ऐसी बात नहीं है। ठाकुर ने भी कहा है –बीच-बीच में सब कुछ विस्मृत हो जाता है।

महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्दजी) का सेवक हुक्के में चिलम लगा कर नली उनके हाथ के पास रख जाता था। वे बैठे ही रहते थे, स्थिर, शान्त, जड़ के समान; तम्बाकू जला जा रहा है, पर उसकी तरफ दृष्टि नहीं है। सेवक लोग यह सब जानते थे, अतः अत्यधिक सावधान भी रहते थे ताकि प्रकृति की प्रतिकूलता के कारण उनके मन को उप उच्च भावभूमि से उतरना न पड़े, इसीलिए चिलम पर चिलम तम्बाकू लगाते जाते थे। बोध ही नहीं रहता था, फिर कभी-कभी थोड़ा होश आया तो दो-एक कश पी लिया। अपूर्व होता था वह दृश्य! इसी दृश्य का

एक फोटोग्राफ भी लिया गया है। बाहर से आकर एक व्यक्ति बोला, 'महाराज, क्या आप तम्बाकू पीने की बुरी आदत छोड़ नहीं सकते ?' उसकी समझ में तो यही आया और सेवकगण देखते थे उनका आत्मविस्मृत भाव। इसी को समाधि कहते हैं। ठाकुर के अन्य सभी सन्तानों में इस भाव की अभिव्यक्ति अत्यधिक मात्रा में दीख पड़ती थी। इसमें रंचमात्र भी दिखावे का भाव नहीं था, यह था उन लोगों का अपना स्वभाव। यही बात ठाकुर कहते हैं, "बीच-बीच में जगत् विस्मृत हो जाता है, कामिनी और कांचन पर आसक्ति नहीं रह जाती, ईश्वरी बातों के सिवा और कुछ नहीं सूझता।" ठाकुर ने यहाँ अत्यन्त सहज और सबके लिए बोधगम्य भाषा में अपनी अवस्था का वर्णन किया है। मनोवैज्ञानिक की भाँति विश्लेषण करके नहीं, अपितु सरल ढंग से कहा है। प्राप्त करके ही चैतन्य को जाना जा सकता है। जिन्हें चैतन्य की उपलब्धि हुई है, उनकी यही अवस्था होती है।

ठाकुर मास्टर महाशय से कहते हैं, "मैंने देखा है, विचार करने पर एक प्रकार का ज्ञान होता है, और ध्यान करने पर लोग एक दूसरी तरह उन्हें समझते हैं। और जब वे खुद दिखा देते हैं तब वे एक और हैं। वे जब खुद दिखलाते हैं कि अवतार इस प्रकार होता है, वे जब अपनी मनुष्य लीला समझा देते हैं, तब विचार करने की जरूरत नहीं रह जाती; किसी के समझाने की आवश्यकता नहीं रहती।"

विचार के द्वारा जानना पूर्ण रूप से सन्देहमुक्त ज्ञान नहीं है, उसमें सन्देह के लिए थोड़ा स्थान रह जाता है। विचार के द्वारा सिद्धान्त स्थिर कर मन में धारणा

करने की चेष्टा की जाती है, उसी को 'ध्यान' कहते हैं। इस ध्यान के समय ध्याता और ध्येय एक नहीं हो जाते। वे खुद दिखा देते हैं कहने का अभिप्राय है साक्षात अनुभूति। 'तब वे एक और हैं।' ये तीन बातें उन्होंने एक के बाद एक कहीं।

विचार और ज्ञान

इसके बाद वे कहते हैं—वे जब अपनी मनुष्य-लीला समझा देते हैं अर्थात् साक्षात् अनुभूति हो जाती है, तब विचार करने की जरूरत नहीं रह जाती। वास्तविक जानना न विचार करने से होता है और न ही ध्यान करने से। "किस तरह जानते हो?—जैसे अँधेरे कमरे के भीतर दियासलाई घिसने से एकाएक उजाला हो जाता है। उसी तरह एकाएक वे अगर उजाला दे दें तो सब सन्देह अपने आप मिट जाते हैं। इस तरह विचार करके उन्हें क्या जाना जा सकता है?"

दियासलाई घिसने का अर्थ है साधन करना। वह साधन चाहे किसी भी प्रकार का क्यों न हो। विचार, ध्यान-धारणा तथा मन को शुद्ध करने की सभी प्रक्रियाएँ प्रयुक्त हो सकती हैं। ये सब करके जानना ही साधन है। स्मरण रखना होगा कि इस पर भी वास्तविक जानना नहीं होता। हो सकता है कि ध्यान के समय मन में मूर्ति प्रस्फुटित हो उठे, लेकिन वह दर्शन नहीं है। कल्पना के अत्यधिक दृढ़ हो जाने के परिणामस्वरूप वे दिखाई देते हैं, परन्तु वह देखना क्या वस्तु रूप में देखना है? 'मैं देख रहा हूँ', यह बोध रहने तक पूरी तरह से देखना नहीं होता। पर जब वे दिखा देते हैं तो वही प्रत्यक्षानुभूति

है । वही दियासलाई घिसते-घिसते अचानक उजाला हो जाना – साक्षात् अनुभूति । यह अनुभूति यदि हो जाय, यदि वे अचानक उजाला कर दें, तो अन्धकार पूरी तरह से दूर हो जाता है, सारा सन्देह मिट जाता है । 'इस तरह विचार करके उन्हें क्या जाना जा सकता है? इस तरह विचार चल रहा है यानी विचार अभी तक अनुभूति में परिणत नहीं हुआ है । विचार साधन अवश्य है, लेकिन केवल विचार-साधन का अवलम्बन करके ही ब्रह्मज्ञान नहीं हो जाता । वह एक उपाय है, जो हमें रास्ता दिखाकर संकेत करते हुए कहता है, इधर से चलो । लेकिन वह वस्तु लाभ नहीं करा सकता ।

गीता में भगवान कहते हैं, "सभी मुझे मनुष्य समझ कर मेरी अवज्ञा करते हैं, परम तत्व को नहीं जानते ।" उनमें जानने की सामर्थ्य नहीं है । तत्व की पूरी तरह धारणा करने के योग्य अन्तःकरण की शुद्धता नहीं है । ऐसी शुद्धता होने पर दर्शन होता है, सब सन्देह दूर हो जाते हैं – अवतार को पहचाना जाता है ।

काली और ब्रह्म

नरेन्द्र ठाकुर से कहते हैं, "तीन चार दिन तो मैंने काली का ध्यान किया, परन्तु कहाँ मुझे तो कहीं कुछ नहीं हुआ ।" ठाकुर उन्हें निरुत्साहित न करते हुए कहते हैं, "धीरे-धीरे होगा । काली और कोई नहीं, जो ब्रह्म है वही काली भी हैं । काली आद्याशक्ति हैं । जब वे निष्क्रिय रहती हैं तब उन्हें ब्रह्म कहते हैं और जब वे सृष्टि-स्थिति और प्रलय करती हैं, तब उन्हें शक्ति कहते हैं, काली कहते हैं । जिन्हें तुम ब्रह्म कह रहे हो उन्हें ही मैं काली कहता हूँ ।"

नरेन्द्रनाथ ब्राह्मसमाज के नियमित सदस्य हैं। उनके मन से तब भी ब्राह्मसमाज का प्रभाव मिटा नहीं है। ठाकुर के संसर्ग में आकर काली का ध्यान कर रहे हैं। तीन-चार ही दिन करने के बाद कहते हैं, "कुछ भी तो नहीं हुआ"। सुनकर लगता है कि तीन-चार दिन करने से ही हो जाएगा ? ठाकुर नरेन्द्र को ध्यानसिद्ध कहा करते थे। उनका तीन-चार दिन हमारे तीन-चार वर्षों से भी बढ़कर है। इसका अर्थ बड़ा गहन है। ठाकुर काली के सम्बन्ध में उनकी धारणा को स्पष्ट करने के निमित्त कहते हैं – जो ब्रह्म हैं, वे ही काली हैं। तुम पहले ब्रह्म की उपासना करते थे और अब काली का ध्यान करते हो – ऐसी बात नहीं। तुम्हारे ब्रह्म और मेरी काली भिन्न नहीं है। काली आद्याशक्ति हैं – आदि की शक्ति हैं। समस्त विचित्रताओं का कारण – जिनसे समस्त वैचित्र्यों का उद्गम हुआ है, वही शक्ति हैं। जो अव्यक्त जगत् की सृष्टि करती हैं, रक्षा करती हैं तथा उपसंहार करती हैं, वे ही काली हैं, वे ही ब्रह्म हैं।

जिनसे जगत् की उत्पत्ति हुई है. जिनमें यह विश्व ब्रह्माण्ड जीवित है, प्राणवन्त होकर अवस्थित रहता है और अन्त में जिनमें समाकर पुनः अनभिव्यक्त रूप प्राप्त कर लेता है. वे ही ब्रह्म हैं। ठाकुर उन्हीं को काली कहते हैं। वस्तु भिन्न नहीं है। एक ही ब्रह्म के ये दो पक्ष हैं। सक्रिय अवस्था को काली तथा निष्क्रिय अवस्था को ब्रह्म कहते हैं। पार्थक्य वस्तु में नहीं, केवल दृष्टि में है। दृष्टि के अनुसार देखकर हमने दो अलग नाम दिये हैं। उनकी सृष्टि अनन्त है – कहीं सृष्टि हो रही है, तो कहीं लय चल रहा है। इस अनन्त विश्व-ब्रह्माण्ड की समग्र अथवा

समष्टि रूप में कल्पना कर पाना कठिन है। इसलिए हम सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म का नाम देते हैं।

ठाकुर और भी व्याख्या करते हैं--"ब्रह्म और काली अभेद हैं। जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति। अग्नि को सोचते ही उसकी दाहिका शक्ति की चिन्ता की जाती है। काली के मानने पर ब्रह्म को मानना पड़ता है और ब्रह्म को मानने पर काली को।" सृष्टि-स्थिति-लय रूपी इन क्रियाओं को जब हम उनके ऊपर आरोपित करते हैं तब वे आद्याशक्ति या काली हैं। और जब ऐसा न कर उनके निष्क्रिय स्वरूप का चिन्तन करते हैं तब वे ब्रह्म हैं। अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति अभिन्न है। जब वह कुछ जलाती है, तब हम उसे अग्नि कहते हैं, और नहीं जलाती, जब अग्नि अपने स्वरूप में स्थित रहती है, तब उसकी शक्ति व्यक्त नहीं है। कार्य के द्वारा शक्ति का अनुमान किया जाता है। क्रिया के द्वारा प्रकट होने पर हम उसे दाहिका शक्ति कहते हैं, जो अग्नि के भीतर थी। इसलिए ब्रह्म और शक्ति अभेद हैं। रामप्रसाद ने अपने भजन में कहा है, "काली और ब्रह्म का मर्म समझकर मैंने धर्माधर्म आदि सबका परित्याग कर दिया है।" ठाकुर कहते हैं-"मैं उन्हें ही शक्ति – काली कहता हूँ।" यह प्रसंग यहीं पर समाप्त हुआ। इधर रात हो चली है।

गिरीश और थियेटर

गिरीश हरिपद से एक गाड़ी ले आने के लिए कहते हैं। उन्हें थियेटर जाना होगा। श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "देखना जरूर ले जाना।" ठाकुर की टिप्पणी का

अभिप्राय यह है कि गिरीश के मन में थियेटर जाने के प्रति अभी पूरा आकर्षण है । इसीलिए उन्होंने यह बात कही ।

गिरीश ठाकुर को छोड़कर नहीं जाना चाहते थे, पर थियेटर जाना भी जरूरी है । वे इसी दुविधा में पड़ गये हैं । श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "नहीं दोनों तरफ की रक्षा करनी चाहिए । राजा जनक दोनों बचाकर – संसार और ईश्वर– दूध का कटोरा खाली किया करते थे ।" राजा जनक इस जगत् में ज्ञान और व्यवहार का सामंजस्य बनाए रखकर ज्ञान-पूर्वक व्यवहार करते थे । उन्होंने ईश्वर और जगत् दोनों को रखकर संसार का भोग किया था, ठाकुर गिरीश को थियेटर छोड़नें से मना करते हुए कहते हैं,"नहीं नहीं,यह अच्छा है । बहुतों का इससे उपकार हो रहा है । इस मना न करने के दो पक्ष हैं । एक तो गिरीश थियेटर के माध्यम से नाट्य रस के द्वारा अनेक उच्च तत्व लोगों के सामने उपस्थित कर रहे हैं और इससे लोक-कल्याण होता है, दूसरा पक्ष यह हो सकता है कि गिरीश का मन अब भी द्वन्द्व से मुक्त नहीं हुआ है । ठाकुर कहते हैं, "घाव के सूख जाने पर पपड़ी अपने आप निकल जाती है,उसके पहले पपड़ी उखाड़ने पर घाव बढ़ जाता है ।" गिरीश का मन भगवान की ओर आकृष्ट हुआ है, तथापि थियेटर आदि की चिन्ता से मुक्त नहीं हुआ है, इस-लिए ठाकुर कहते हैं कि अभी छोड़नेकी आवश्यकता नहीं है ।

ठाकुर गिरीश का आदर्श सबके समक्ष रखना चाहते हैं । जो संसार में रहते हुए भगवान का चिन्तन करते हैं, उन्हें कहते हैं, "इसी प्रकार के दृढ़ विश्वास के साथ निर्लिप्त भाव से संसार करो ।" लेकिन त्यागी सन्तानों से वे कहते हैं, "देखो, लहसुन की कटोरी को चाहे जितना भी धोओ, पर थोड़ा सा गन्ध रह जाता है ।" अपने इतने

प्रिय गिरीश के प्रति भी ऐसी बात कहते हैं। आग में तपा देने पर लहसुन की वह गन्ध चली जाती है, पर आग में तपाने का समय सम्भवतः अभी आया नहीं है। वे प्रतीक्षा कर रहे हैं; लहसुन की अपनी इस कटोरी को वे अपूर्ण छोड़कर नहीं जायेंगे। आग में तपा लेने का समय आ रहा है, यह बात गिरीश के परवर्ती जीवन को देखने से समझ में आ जाती है। जीवन के अन्तिम दिनों में ठाकुर के अतिरिक्त अन्य किसी तरह की बात उनके मुख से निकलती ही नहीं थी। वे सदा उनकी अहैतुकी कृपा, अगाध प्रेम, तथा करुणा, की बातें कहते। यह सब वर्णन करते-करते उनकी दोनों आँखों से अश्रुधारा बहने लगती थी। यही है तपे हुए लहसुन की कटोरी रूपी गिरीश, परन्तु उनके आग में तपकर शुद्ध होने का समय अभी आया नहीं है।

नरेन्द्र भविष्य के गिरीश को नहीं देख पाते, वर्तमान के गिरीश को देखकर धीमे स्वर में कहते हैं, "अभी तो ईश्वर और अवतार की बात कर रहे थे, अब इन्हें थियेटर घसीट रहा है।" परन्तु ठाकुर देखते हैं भविष्य के गिरीश को। जो पक्षपातशून्य, निष्किंचन अवतार हैं, वे गिरीश के इतने अत्याचार और हठ को सहते हैं, उनके भविष्य के जीवन को ध्यान में रखकर। वह उनका, अन्तरंग है। उसके ऊपर का आवरण धीरे-धीरे खिसकता जा रहा है, इसलिए ठाकुर निश्चिन्त हैं। अदूरदृष्टि के लोग मनुष्य के वर्तमान को ही देखकर सदा के लिए उसका मूल्यांकन कर बैठते हैं, परन्तु ठाकुर ऐसा नहीं करते, इसीलिए वे शराबी तथा लंपट गिरीश को नहीं, बल्कि सर्वकलुष-मुक्त गिरीश से इतना प्रेम करते हैं, और यह प्रेम अपात्र पर नहीं किया गया, यह बात गिरीश के परवर्ती जीवन को देखने ही स्पष्टरूप से समझमें आती है।

मानस-रोग (१५/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम के प्रांगण में आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर कुल मिलाकर ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलिखन उनके १५वें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों को लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्री राजेन्द्र तिवारी ने, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापन करते हैं।—स.)

आयुर्वेद शास्त्र में दो प्रकार के सन्निपातों का वर्णन है। इन दोनों में से एक प्रकार तो अयोध्या में दिखाई देता है और दूसरा लंका में। पर इन दोनों में एक अन्तर है और वह अन्तर आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार यह है कि एक में मुख्य रूप से मस्तिष्क आक्रान्त होता है और दूसरे में आँत। जब मस्तिष्क आक्रान्त होता है, तब रोगी प्रलाप करने लगता है और ज्वर की तीव्रता में मस्तिष्क काम करना बन्द कर देता है। जब आँत आक्रान्त होती है, तो पाचन-क्रिया बन्द हो जाती है और एक तरह से अतिसार हो जाता है। आयुर्वेद की मान्यता यह है कि सन्निपात से जब मस्तिष्क प्रभावित होता है, तब उसकी चिकित्सा अपेक्षाकृत सरल है, क्योंकि ज्वर में ताप अधिक होने पर सिर पर ठण्डे पानी की पट्टी रखने से उत्ताप कम हो जाता है, रोग का प्रकोप घट जाता है और रोगी स्वस्थता की ओर बढ़ने लगता है। लेकिन जब आँतों पर उसका अधिक प्रभाव पड़ता है और सन्निपात के साथ अतिसार भी हो जाता है, तो वैद्य उसे प्रायः असाध्य मानते हैं। उसकी चिकित्सा करना कठिन है। यदि मन

के सन्दर्भ में देखें तो इसका अभिप्राय यह है कि काम, क्रोध व लोभ के दो रूप हैं । एक रूप तो वह है जो अयोध्या में दिखाई देता है और दूसरा वह है जो लंका में; पर एक तो साध्य था और दूसरा असाध्य । एक की चिकित्सा हो गई और दूसरे की नहीं हो पायी । एक में रोगी स्वस्थ हो गया और दूसरे में रोगी की मृत्यु हो गयी, सारे समाज की मृत्यु हो गयी । और इसका सीधा सा तात्पर्य यह है कि काम-क्रोध-लोभ के साथ जहाँ अहंकार की वृत्ति सम्मिलित हो जाय, तो वहाँ बुराइयाँ असाध्य हो जाती हैं । जिस समाज या व्यक्ति के जीवन में काम-क्रोध-लोभ असन्तुलित हो जाय, पर उसके अन्तःकरण में इसके लिए पश्चाताप या ग्लानि न हो तो वह स्वस्थ कैसे होगा ? अगर किसी व्यक्ति के जीवन में दुर्बलता हो और उसे अपनी दुर्बलता का भान हो, तो वह व्यक्ति उस दुर्बलता को दूर करने की चेष्टा करेगा और स्वस्थ हो जाएगा ।

कैकेयीजी और रावण के चरित्र की अगर हम तुलना करके देखें, तो यही दिखाई देगा कि कैकेयीजी भी गम्भीर रूप से रोगग्रस्त हैं और रावण भी । दोनों में सन्निपात के लक्षण दिखाई दे रहे हैं । और दोनों के चिकित्सक श्री भरतजी तथा श्री हनुमानजी भी समान रूप से महान हैं। पर दोनों रोग में वही एक अन्तर है, जो सन्निपात के सन्दर्भ में कहा गया । कैकेयीजी पर रोग का आक्रमण हुआ है बुद्धि को केन्द्र बनाकर । मन्थरा ने उनकी बुद्धि में बिभ्रम उत्पन्न कर दिया है । कैकेयी के चित्त में तो संस्कार यही था कि राम मुझसे बहुत प्रेम करते हैं, यहाँ तक कि अपनी माँ से भी अधिक । यदि उनका यह संस्कार

दृढ़ बना रहता तो सम्भवत: मन्थरा की बातें उन्हें प्रभावित नहीं कर पाती। प्रारम्भ में तो प्रभावित हुईं भी नहीं। जिस समय मन्थरा ने यह कहा कि कल राम को राज्य प्राप्त होने वाला है, उस समय तो प्रसन्न होकर उन्होंने यही कहा था, "अगर तेरी बात सच हुई तो तू जो माँगेगी, वही दूँगी।" लेकिन कैकेयी की इस भावना का आधार क्या था ? मन्थरा ने देख लिया था कि उसकी जड़ कहाँ है ? इस भाव में कि 'राम अपनी माँ से भी अधिक प्रेम मुझसे करते हैं।' बस मन्थरा ने देख लिया कि इस प्रेम का आधार है अहं। यद्यपि वह सात्विक अहं था, पर था अहं ही। और मन्थरा ने सबसे पहले उनके इसी सात्विक अहं को उभाड़ा। उसने कहा कि राम को राज्य मिल रहा है और वे सुख की नींद सो रही हैं। यह सुनकर कैकेयीजी मन्थरा पर बिगड़ खड़ी हुई और बोलीं—

पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी।
तब धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी ।।२।१३।८

—"अब फिर कभी यदि तूने घर में झगड़ा लगानेवाली बात कही तो मैं तेरी जीभ कढ़वा लूँगी।" इस तरह कैकेयीजी मन्थरा को खूब फटकारती हैं। पर मन्थरा निराश नहीं होती। वह भी खूब जान गई थी कि यही सात्विक अहंकार कैकेयी की सबसे बड़ी दुर्बलता है। और इसी अहं को पकड़कर वह अपनी योजना में सफल भी होती है। कैकेयीजी कहती हैं—"मन्थरा क्या तुम जानती हो की मैं पूजा-पाठ क्यों करती हूँ ? मैं तो ब्रह्मा से एक ही वरदान माँगती हूँ—

जौ विधि जनमु देइ करि छोहू।
होहुँ राम सिय पूत पतोहू ।।२।१४।७

—"यदि ब्रह्मा मुझे अगला जन्म दें तो राम मेरा पुत्र बने और सीता मेरी बहू।" अब वैसे देखिए तो यह बड़ी श्रेष्ठ भावना है। राम और सीता को पाने की भावना क्या निन्दनीय है? राम से सम्बन्ध जोड़ने की भावना, सीता से सम्बन्ध जोड़ने की वृत्ति श्रेष्ठ तो है ही, पर उस श्रेष्ठ वृत्ति के पीछे छिपा हुआ जो एक सात्विक अहं है, उसे मन्थरा ने देख लिया। बड़ी प्रसन्न हुई वह। कोई बात नहीं, राजसिक-तामसिक न सही सात्विक अहं तो है। मन्थरा को पता कैसे चला? अगर कोई कैकेयी से पूछ दे कि आप यह जो चाहती हैं कि अगले जन्म में राम आपका पुत्र हो, सीता आपकी बहू बने, तो आप तो स्वयं कहती हैं कि राम मुझे अपनी माता से अधिक प्रेम करते हैं, तो आप कम क्यों होना चाहती हैं। कैकेयीजी के मन में बात यह है कि ठीक है! राम मुझे अपनी माता से अधिक चाहते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं, लेकिन इतना होते हुए भी संसार में अगर पूछा जाय की राम किसका बेटा है, तो वह कौशल्या का ही बेटा तो कहलाएगा, कैकेयी का बेटा तो कोई नहीं कहेगा! यही 'मैं' है। राम को जैसे कौशल्या का बेटा कहा जाता है, उसी तरह मेरा बेटा कहा जाय, भले ही वह प्रेम मुझसे कम करें। उनके अन्त:करण में जो राम से नाता जोड़ने की वृत्ति है, उसके मूल में यह सात्विक अहं है। और उसे ही पकड़कर मन्थरा ने बड़ी चतुराई से उनकी बुद्धि में विभ्रम उत्पन्न कर दिया।

काम बहुधा वर्तमानोन्मुख रहता है, क्रोध भूतोन्मुख और लोभ भबिष्योन्मुख। क्रोध क्यों आता है? यह सोचकर कि ऐसा क्यों नहीं हुआ? जब क्रोध

आता है तो भूतकाल पर ही आता है। जो बीत गया, उसी पर आता है। और काम का स्वभाव है वर्तमान को देखना। वर्तमान में जो प्यास है, जो वासना है, उसकी पूर्ति कैसे हो ? भूत तो देख लिया, वर्तमान सामने है, पर एक भविष्य ही ऐसा है, जो दिखायी नहीं देता। उसकी आप चाहे जैसी विचित्र कल्पना कर लीजिये। पता नहीं कितने दिन जीवित रहेंगे ? कैसी कैसी परिस्थितियाँ आएँगी ? भविष्य तो पूरी तरह काल्पनिक है। और मन्थरा ने वही किया। उसने कहा कि आपने भूत को तो देख लिया कि राम आपसे बहुत प्रेम करते थे। और अब आप वर्तमान को देख रही है कि राम को राज्य देने की तैयारी चल रही है और आपको इसकी कोई सूचना तक नहीं। भला आपसे छिपाने की क्या आवश्यकता थी ? कहाँ हैं आपके राम, जो सदा आपके महल में रहते थ ? जो महाराज दशरथ सबसे पहले आपके महल में आते थे, अपने किसी भी निर्णय को सर्वप्रथम आपसे कहते थे, वे सब अब कहाँ हैं ? सब कुछ कितना बदला हुआ चल रहा है। यह है आपका वर्तमान ! आज अयोध्या का प्रत्येक नागरिक यह जानता है कि कल राम को राज्य दिया जायगा। पर क्या आप जानती हैं ? यह तो मैं बता रही हूँ आपको। तात्पर्य यह कि अयोध्या में आज मेरे सिवा आपका कोई नहीं रह गया है। अब आप सोचिए कि आपका भविष्य क्या है ? और उसने कैकेयी के सामने भविष्य का एक भयावह काल्पनिक चित्र खींचकर रख दिया। कह दिया कि—'रामहि तिलक'—राम सिंहासन पर बैठेंगे। 'भरतु बंदिगृह सेइहहिं'—भरत बंदीगृह में रहेंगे। और 'लखनु

राम के नेव ।।' –और लक्ष्मण राम की ओर से राज्य चलाएँगे । लक्ष्मण को ही सबसे अधिक महत्त्व प्राप्त होगा । तब—

जौं सुत सहित करहु सेवकाई ।
तौ घर रहहु न आन उपाई ।।२।१८।८

—अब तो तुम्हें बस एक ही काम करना है – कौशल्या की सेवा, जो तुम्हारी सौत है । नौकरानी बनकर रहना पड़ेगा, तभी तुम इस घर में रह पाओगी, अन्यथा कोई उपाय नहीं है । बड़ी चोट लगी कैकेयी को । सोचने लगीं वे, "अरे, मैं तो कौशल्या के बेटे को तो अपने बेटे से भी बढ़कर मानती थी, और कौशल्या के मन में मेरे लिए इतना बड़ा षड़यंत्र !" हो चाहे न हो, सामनेवाले ने तो पैठा दिया न मन में ! जब कैकेयी ने यह सुना कि अच्छा, यह योजना है ! तब उसके मन में प्रति-हिंसा की वृत्ति जाग उठी ।

जस कौसिलाँ मोर भल ताका ।
तस फलु उन्हहि देउँ करि साका ।।२।३२।८

—मैं तो उदार हूँ, अच्छे व्यवहार के बदले अच्छा व्यवहार करना जानती हूँ । लेकिन अगर कोई मुझसे बुरा व्यवहार करता है, तो उसका उत्तर देना भी मुझे आता है । मन्थरा के इस काल्पनिक चित्र से कैकेयी के अहं को धक्का लगा और वह क्रोधित हो उठी । बदला लेने की वृत्ति आ गई । थोड़ी ही देर में कैकेयी इतनी बदल गईं कि जो अभी मन्थरा को फटकार रहीं थीं, वे ही अब मन्थरा से क्षमा माँगते हुए कह रहीं हैं— मन्थरा, मैंने तुम्हें पहचानने में बड़ी भूल की । इतने वर्षों

तक तुम्हें मैंने पैरों में बैठाया पर तुम तुम पैरों में बैठाने के योग्य नहीं हो। अब तो तुम्हारा स्थान बदल गया है। कहाँ ?

जौं विधि पुरब मनोरथु काली ।'
करौं तोहि चख पूतरि आली ॥२।२२।३

—अब तो मैं तुम्हें अपनी आँखों की पुतली बना लूँगी। अभिप्राय यह कि अब मन्थरा की आँखों से ही देखना और मन्थरा के कानों से ही सुनना होगा। वही सुनेंगी जो मन्थरा कह रही है। वही देखेंगी जो मन्थरा दिखायेगी। वही कहेंगी जो मन्थरा कहलायेगी। यहाँ तक कि मन्थरा ने उनको अपना पूरा रूप तक दे दिया। जब वे चलने लगीं तो मन्थरा ने कहा—यहाँ नहीं, कोप भवन में जाओ। कोप भवन में जाने लगीं तो कहा—"इतनी बढ़िया साड़ी-गहने पहन कर कोप भवन में ? वहाँ भला इसकी क्या शोभा ? आप मेरे कपड़े पहन लीजिये। उसने पूरा अपना वेश भी दे दिया। अपना ऐसा अनुगामी बनाया कि सचमुच महाराज दशरथ का काम, कैकेयी का क्रोध और लोभ आपस में मिला और सन्निपात हो गया।

अयोध्या में जो सन्निपात है, उसके महान वैद्य हैं श्री भरत। वे आते हैं और क्रम से चिकित्सा प्रारम्भ करते हैं। आयुर्वेद शास्त्र में तो बड़े विस्तार से इसका वर्णन किया गया है कि अगर कफ, वात और पित्त तीनों ही प्रबल हो गए हों तो उसकी चिकित्सा कहाँ से प्रारम्भ करनी चाहिए ? कफ को पहले शान्त करें या पित्त को या वात को ? आयुर्वेद के अनुसार

सन्निपात की चिकित्सा में वैद्य की बड़ी कठिन परीक्षा हो जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि अगर एक ही धातु विकृत हुई हो तो वैद्य के सामने कोई कठिनाई नहीं होती। उसकी दवा वह दे देगा और विकृति शान्त हो जायगी। पर जहाँ कई विकृतियाँ एक साथ आ गई हों, वहाँ तो चुनना पड़ेगा कि किस विकृति को दूर करने के लिए किस क्रम का पालन करें। श्री भरत ने सबसे पहले इसका ही निर्णय किया। श्री दशरथजी के जीवन में काम की दुर्बलता है। वह दुर्बलता मनु के रूप में भी उनमें थी और दशरथ के रूप में भी है। लेकिन इतना होते हुए भी बुद्धि से उन्होंने कभी भी अपने मन के इस दोष को अच्छा नहीं माना। बल्कि उनके मन में सदा इस बात की ग्लानि रही, यद्यपि वे कैकेयी के महल में कामी के रूप में ही गए, पर काम की बुराई को वे तुरन्त समझ गए। वर्णन आता है कि जब वे कैकेयी के महल में गए तो उनके शब्द हैं—

बार बार कह राउ सुमुखि सुलोचनि पिकबचनि।
कारन मोहि सुनाउ गजगामिनि निज कोप कर॥

अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा।
केहि दुइ सिर केहि जमु चह लीन्हा॥
कहु केहि रंकहि करौं नरेसू।
कहु केहि नृपहि निकासौं देसू॥
सकउँ तोर अरि अमरउ मारी।
काह कीट बपुरे नर नारी॥
जानसि मोर सुभाउ बरोरू।
मनु तव आनन चन्द चकोरू॥
प्रिया प्रान सुत सरबसु मोरें।
परिजन प्रजा सकल बस तोरें॥२/२५।१-५

—महाराज दशरथ बार बार कह रहे हैं– हे सुमुखी ! हे सुलोचनी, हे कोकिलबयनी ! हे गजगामिनी ! मुझे अपने क्रोध का कारण तो बताओ। हे प्रिये, किसने तुम्हारा अनिष्ट किया ? किसके दो सिर हैं ? यमराज किसको ले जाना चाहते हैं ? कहो, किस कंगाल को राजा बना दूँ या किस राजा को देश से निकाल दूँ ? तुम्हारा शत्रु अमर भी हो, तो भी मैं उसे मार सकता हूँ। बेचारे कीड़े-मकोड़े जैसे नर-नारी तो चीज ही क्या है ? हे सुन्दरी ! तुम तो मेरा स्वभाव जानती ही हो कि मेरा मन सदा तुम्हारे मुखरूपी चन्द्रमा का चकोर है। हे प्रिये! मेरी प्रजा, कुटुम्बी, सर्वस्व (सम्पत्ति), पुत्र, यहाँ तक कि मेरे प्राण भी, सब तुम्हारे वश में हैं।

इस प्रकार महाराज दशरथ कैकेयीजी के सौन्दर्य की प्रशंसा करते हैं और उन्हें रिझाने की चेष्टा करते हैं। लेकिन उसकी एक सीमा थी। राम और काम में किसी एक का चुनाव करने का अवसर आ गया था। राम के प्रति भी उनके मन में आकर्षण है और काम के प्रति भी। पर जब दोनों आकर्षण प्रतिद्वन्द्वी बनकर सामने आ गये, तब यह नहीं हुआ कि दशरथजी राम के स्थान पर काम को चुन लें। राम की तुलना में उन्होंने काम को ही तुच्छ अनुभव किया। और तब दशरथजी ऐसे बदले कि जिन कैकेयीजी के सुन्दर मुख को देखकर वे प्रसन्न हो रहे थे, उन्हीं कैकेयीजी को अब देखना भी नहीं चाहते। ज्योंही कैकेयी ने राम के लिए बनवास और भरत के लिए राज्य माँगा, त्योंही दशरथजी की आँखें ऐसे बदल गयीं कि उन्हें कैकेयी के 'सुमुख' के स्थान पर 'कुमुख' दिखाई देने लगा। पहले उनके मन में एक समझौता

था। वे कैकेयी से भी प्यार करते थे और राम से भी। कैकेयी स्वयं राम से प्रेम करती थीं और राम भी कैकेयी से। अतः दशरथजी के इस द्विविध प्रेम में न केकेयी को आपत्ति थी न राम को। और दशरथजी अपने जीवन में यही समझौता करके चल रहे थे कि राम और काम—— दोनों सुख बना रहे तो अच्छा। लेकिन जब यह दिखाई देने लगा कि दोनों एक साथ नहीं रह सकते, दोनों में से किसी एक को चुनना होगा, तब गोस्वामीजी कहते हैं——अब दशरथजी तुरन्त सावधान हो गये। अब उनकी वृत्ति बदली हुई है, दृष्टि बदली हुई है। अब उन्हें कैकेयी सुमुखी नहीं लग रही हैं। अब कैसी लग रही हैं ?

लागहि कुमुख बचन सुभ कैसे।
मगह गयादिक तीरथ जैसे ॥२/४२/७

——कैकेयी के बुरे मुख में ये शुभ वचन कैसे लगते हैं ? जैसे मगध देश में गया आदि तीर्थ। अब सुमुख के स्थान पर कुमुख लगने लगीं। जिन बड़े बड़े नेत्र वाली सुलोचनी पर रीझे हुए थे, वे अब कैसी लग रही हैं ?

मृगिन्ह चितव जनु बाघिनि भूखी ॥२।५०।१

——वह तो भूखी बाघिन जैसे दीख रही थी। और जिसके शब्द पपीहा के स्वर जैसे मधुर लगते थे वह अब ऐसी लग रही है मानो——

भूप मनोरथ सुभग बनु, सुख सुविहंग समाजु।
भिल्लिनि जिमि छाड़न चहति
बचनु भयंकरु बाजु ॥२।२८

——राजा का मनोरथ सुन्दर वन है, सुख सुन्दर पक्षियों का समुदाय है। उस पर भीलनी की तरह कैकेयी अपना

वचन रूपी भयंकर बाज छोड़ना चाहती है। पिकबचनी नहीं, यह तो बाज के समान भयंकर आक्रमणकारी वचन बोल रही है। और जिन्हें वे गजगामिनी कहा करते थे उसे अब क्या कहते हैं? कहते हैं कि चाल नहीं, स्वभाव हाथी की तरह है।

मोर मनोरथु सुरतरु फूला।
फरत करिनि जिमि हतेउ समूला॥
अवध उजारि कीन्हि कैकेई।
दीन्हिसि अचल बिपति कै नेई॥२।२८।८-९

——महाराज दशरथ सोचते हैं——हाय, मेरा मनोरथरूपी कल्पवृक्ष फूल चुका था, परन्तु फलते समय कैकेयी ने हथिनी की तरह उसे जड़ समेत उखाड़कर नष्ट कर डाला। उसने अयोध्या को उजाड़ दिया और विपत्ति की अचल नींव डाल दी। जैसे हाथी वृक्षों को उजाड़ देता है, इसी प्रकार मेरे मनोरथ के कल्पतरु को तुमने उखाड़ दिया। फिर दशरथजी बिना संकोच के कह देते हैं——

लोचन ओट बैठु मुहु गोई॥२।३५।६

——तुम मेरी आँखों से दूर चली जाओ, मैं तुम्हारा मुँह भी नहीं देखना चाहता। और उनके यह कहने के बाद भी जब कैकेयी वहाँ से नहीं गयी, तो वे स्वयं कैकेयी के भवन का परित्याग कर देते हैं। उन्हें अपने अन्तःकरण के इस काम की वृत्ति पर बड़ी ग्लानि होती है। उन्होंने काम की भयंकरता को देख लिया। इसका अभिप्राय यह है कि उनकी बुद्धि ने काम का समर्थन नहीं किया। बाद मे वे कौशल्याजी के भवन में गये। कौशल्याजी ने दशरथजी को बार-बार समझाया, पर वे अपनी इस बात

पर दृढ़ रहे कि अब मैं इस शरीर का परित्याग कर दूँगा। कौशल्याजी ने पूछा —— महाराज, आप शरीर का परित्याग क्यों करना चाहते हैं? तो दशरथजी ने आँखों में आँसू भर कर कहा —— जिस शरीर से मैंने इतने सत्कर्म किये, इतना विचार और सत्संग किया, फिर भी मैं अपनी वासना को नहीं जीत पाया, और उस वासना के प्रवाह में मैंने कैकेयी को ऐसे वचन दे दिये। जो शरीर वासना के कलुष से मलिन हो चुका है वह अब राम की सेवा के योग्य नहीं है, इसलिए उसका प्रायश्चित तो यही है कि——

सो तनु राखि करब म काहा ।
जेहिं न प्रेम पनु मोर निबाहा ।।
हा रघुनन्दन प्रान पिरीते ।
तुम्ह बिनु जिअत बहुत दिन बीते ।।
हा जानकी लखन हा रघुवर ।
हा पितु हित चित चातक जलधर।।२/१५४/६-८
राम राम कहि राम कहि,राम राम कहि राम ।
तनु परिहरि रघुबर बिरहँ,
राउ गयउ सुरधाम ।।२/१५५

——उस शरीर को रखकर क्या करूँगा, जिसने मेरा प्रेम का प्रण नहीं निबाहा। हा रघुकुल को आनन्द देने वाले मेरे प्राणप्रिय राम, तुम्हारे बिना जीते हुए मुझे बहुत दिन बीत गये। हा जानकी, लक्ष्मण, हा रघुवर, हा पिता के चित्तरूपी चातक के हित करनेवाले मेघ, इस तरह बार बार राम राम कहकर श्री राम के विरह में राजा दशरथ शरीर त्यागकर स्वर्ग सिधार गये।

महाराज दशरथ अपने काम की त्रुटि को समझ लेते हैं और अपने शरीर का बलिदान करके प्रायश्चित्त करते हैं। उनसे जो भूल हुई थी, उसका श्री राम की स्मृति में डूबकर परिमार्जन कर देते हैं। इसके पश्चात् कैकेयी में जो लोभ और क्रोध की वृत्ति है और जो सात्विक अहं है, इन सबकी चिकित्सा का भार महानतम चिकित्सक श्री भरत के ऊपर आया।

श्री भरतजी आये तो उन्होंने कैकेयीजी को सबसे पहले बहुत ही कड़वी दवा दी। वे समझ गये थे कि मीठी दवा से इनका उपकार नहीं होगा, क्योंकि कैकेयीजी तो सोने की थाल सजाकर और राज्य का प्रस्ताव लेकर खड़ी थीं। श्री भरत ने सोचा कि अगर मैं मीठे शब्दों में इनका अभिवादन करूँगा तो इनके अन्तर्मन में जो लोभ और क्रोध की दुर्वृत्तियाँ उत्पन्न हो गयी हैं उन्हें प्रोत्साहन मिलेगा और ये समझेंगी कि ये बड़े सार्थक हैं इसलिए कैकेयीजी ने जब उनके सामने राज्य का प्रस्ताव रखा तो उसके उत्तर में श्री भरत ने कहा——

जब तैं कुमति कुमत जियँ ठयऊ।
खंड खंड होइ हृदय न गयऊ।।
बर मागत मन भइ नहिं पीरा।
गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा।।
भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्ही।।
मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही।।२/१६१/१-३

——अरी कुमति, जब तूने हृदय में यह बुरा विचार निश्चय किया, उसी समय तुम्हारे हृदय के टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं हो गये? वरदान मांगते समय क्या तुम्हारे मन में कुछ भी पीड़ा नहीं हुई? तुम्हारी जीभ क्यों नहीं गल गयी?

तुम्हारे मुँह में कीड़े क्यों नहीं पड़ गये? राजा ने तुम्हारा विश्वास कैसे कर लिया? जान पड़ता है कि विधाता ने मरने के समय उनकी बुद्धि हर ली थी।

बहुत से लोग कहते हैं कि श्री भरत ने कैकेयीजी के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया, वह उचित नहीं था। लेकिन यह निर्णय तो वैद्य ही करेगा कि उसे कौन सी दवा देनी है। आप यह उलाहना कैसे दे सकते हैं कि वैद्य ने मीठी दवा नहीं दी। काशी में एक वैद्य हैं। एक बार एक सज्जन उनसे बोले कि वैद्यजी, कोई स्वादिष्ट चूरन दीजिए। वैद्यजी बिगड़कर बोले, "क्या इसे कोई चूरन-चटनी की दुकान समझ बैठे हो? चले जाओ यहाँ से! वैद्य के पास आये हो कि चूरन वाले के पास? जो चूरनवाला है, वह तुम्हें स्वादिष्ट चूरन देगा। क्योंकि उसका काम ही वही है। पर अगर वैद्य के पास आओगे तो यह तो वैद्य ही निर्णय करेगा कि दवा स्वादिष्ट हो या कड़वी।" वैद्य तो वही दवा देगा जिससे रोगी स्वस्थ हो। यहाँ पर श्री भरत ने कड़वी दवा का प्रयोग किया। कैकेयी के मन में एक ही तो आशा थी। उन्हें लगा कि सम्पूर्ण अयोध्या के लोगों ने मेरा तिरस्कार कर दिया है। दशरथजी का तिरस्कार उन्हें मिल ही चुका था। चारों ओर से कैकेयी कटी हुई थीं। लेकिन उनके मन में बस एक ही आशा थी—कोई बात नहीं, एक बार मेरा बेटा सिंहासन पर बैठ जाय, फिर मैं देख लूँगी कि कौन मेरा विरोध करता है। क्योंकि सिंहासन और सत्ता के सामने सभी झुक जाते हैं। इसलिए अपनी सारी आशाओं का केन्द्र उन्होंने भरत को बना लिया है। लेकिन भरतजी ने जब उनके रोग का निदान किया तो

स्पष्ट हो गया कि इस समय यदि उन्होंने कैकेयीजी से मीठा व्यवहार किया तो वह उनके रोग को बढ़ा देगा। तब उन्होंने कैकेयीजी से क्या कहा ? उन्होंने कहा कि यह तुम्हारा बड़ा दुर्भाग्य है कि तुम्हारी बुद्धि दूषित हो गयी है।

जब तैं कुमति कुमत जियँ ठयऊ।
खंड खंड होइ हृदय न गयऊ॥
वर माँगत मन भइ नहिं पीरा।
गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥
भूँप प्रतीति तोरि किमि कीन्हीं।
मरन काल विधि मति हर लीन्ही॥२/१६१/१-३

इस तरह बड़े कठोर शब्दों में श्री भरत ने कैकेयी को फटकारा। और आगे चलकर उन्होंने उनका तिरस्कार भी किया। पर उस तिरस्कार में विशेषता यह थी कि कैकेयीजी के मन में अपनी करनी के प्रति पश्चात्ताप उत्पन्न हुआ। उन्हें लगा कि मेरा लोभ और क्रोध कितना बुरा है। यही तो बुराई से छूटने का सबसे बड़ा और सही उपाय है। इसीलिए जब सब रानियाँ सती होने के लिए चलीं, तो श्री भरत ने कौशल्याजी और सुमित्राजी के चरण पकड़कर उन्हें सती होने से रोका। लेकिन उन्होंने कैकेयीजी को भी सती होने नहीं दिया। यदि वे यह चाहते कि कैकेयी को दण्ड मिले, तो वे यह सोच सकते थे कि चलो, अन्य माताओं को तो मैंने बचा लिया, पर कैकेयी यदि अपना शरीर जला दे तो अच्छा होगा। लेकिन यह बात श्री भरत के मन में नहीं आई। वैद्य की दृष्टि यही है। कैकेयी को वे शरीर से नहीं मारना चाहते थे। वैद्य रोगी को नहीं

मारता, वह तो रोग को मारने के लिए है । तो श्री भरत को लगा कि यह तो उचित मार्ग नहीं है । इसलिए उन्होंने कड़वी दवा का प्रयोग किया ।

सती होने के पीछे कैकेयीजी की मनोभावना क्या थी ? जब वे भरतजी के द्वारा भी तिरस्कृत हो गयीं तो उन्हें ऐसा लगा कि अब समाज में एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं बचा, जिसके मन में मेरे प्रति रंचमात्र भी प्रेम हो या अपनत्व का भाव हो । अगर मैं जीवित रहूँगी तो सारे समाज के लोग मुझे घृणा और उपेक्षा की दृष्टि से देखेंगे । और तब कैकेयी के अहं ने कहा कि अब अपने इस कलंक को मिटाने का एक ही उपाय है कि मैं महाराज के साथ सती हो जाऊँ । इससे लोग मेरे दोषों को भूल जाएँगे और उन्हें यही याद रहेगा कि कैकेयी तो बड़ी सती थीं, उन्होंने अपने पति के साथ अपने प्राणों का परित्याग कर दिया । इससे पुरानी भूलों का परि-मार्जन हो जाएगा और मैं सती के रूप में याद की जाऊँगी । लेकिन भरतजी ने तो माँ को सती नहीं होने दिया, अग्नि में नहीं जलने दिया। और उन्होंने कैकेयीजी को मानो याद दिला दिया कि अन्य माताएँ जो सती होना चाहती हैं, उनकी भावना को तो मैं समझ सकता हूँ कि उनके मन में पति के प्रति बड़ी प्रीति है; पर आप क्यों सती होना चाहती हैं ? और साथ ही साथ उन्होंने पूछ लिया कि मैंने तो सुना है कि स्त्रियाँ जब सती होती हैं तो पति के साथ पतिलोक में जाती हैं । तो क्या महाराज के साथ रहकर उनको कुछ और कष्ट देना बाकी है, जो उनके लोक में जाना चाहती हो ? वे आपको यहीं पर छोड़कर चले गये । उन्होंने आपको

देखना भी पसन्द नहीं किया। आप सती होकर स्वर्ग में जायेंगी तो क्या पिताजी आपको वहाँ देखना पसन्द करेंगे? भरतजी ने कहा——आप यदि जलना ही चाहती हैं तो जलने से मैं आपको नहीं रोकता। मैं नहीं कहता कि मत जलिए। मैं चाहता हूँ कि आप जलिए। लेकिन आपका कल्याण उस आग में जलने में नहीं है। आपका कल्याण तो पश्चाताप की अग्नि में जलने में है। आप अगर अपने आपको पश्चाताप की अग्नि में जलाएँगी तो आपके अपराध जलकर नष्ट हो जाएँगे। इसका अभिप्राय यह है कि आपके भूल के कारण ही रामराज्य नहीं बन पाया, पिताजी की मृत्यु हुई. ऐसी स्थिति में अगर आप अपनी भूल को समझकर ग्लानि और पश्चाताप पूर्वक श्री राम को लौटा लाएँ और सिंहासन पर बैठाने की चेष्टा करें तो आपका अपराध धुल जाएगा। और इसके पश्चात् सचमुच कैकेयी के मन में ग्लानि और पश्चाताप का उदय हुआ, गोस्वामीजी कहते हैं——

गरइ ग्लानि कुटिल कैकेई।
काहि कहै केहि दूषनु देई ।।२।२७२।१
अवनि जमहि जाचति कैकेई।
महि न बीचु बिधि मीचु न देई ।।२।२५१।६

——कुटिल कैकेयी मन-ही-मन ग्लानि (पश्चाताप) से गली जाती है। किससे कहें और किसको दोष दें? वे पृथ्वी तथा यमराज से याचना करती हैं, किन्तु धरती बीच (फटकर समा जाने के लिए रास्ता) नहीं देती और विधाता मौत नहीं देते।

यह तीव्रतम पश्चात्ताप उनके अन्तःकरण में उत्पन्न हुआ। उन्होंने देख लिया कि लोभ और क्रोध का कितना

भयंकर परिणाम हुआ। कैकेयीजी जब चित्रकूट गईं तो भगवान श्री राम तीनों माताओं के बीच सबसे पहले कैकेयीजी के चरणों में प्रणाम कर उनके सीने से लिपट गये। गोस्वामीजी ने लिखा है—

प्रथम राम भेंटी कैकेई ।।२/२४३/७

तीनों माताओं के बीच श्री राम जब कैकेयीजी के हृदय से लग गये तो वे रोने लगीं। उन्हें लगा – अरे, इसी राम पर क्रोध करके मैंने वनवास दे दिया था, पर इसका व्यवहार आज भी मेरे प्रति वैसा ही है। पहले वह अपनी माता की अपेक्षा मुझे अधिक चाहता था, यह तो एक साधारण बात थी, लेकिन जब मैंने इसे इतना कष्ट दिया तब भी मेरे प्रति इसका वही पुराना भाव है। आज भी अपनी माता की अपेक्षा मुझे अधिक महत्व देता है। और भगवान राम तो कैकेयी अम्बा के हृदय से लगकर कहने लगे– माँ, तुम बिलकुल मत घबराना। मेरे हृदय की बात तो केवल तुम्हीं जानती हो। अगर तुमने मुझे वन न भेजा होता तो भरत का चरित्र, भरत का प्रेम समाज के सामने कैसे आता। यह दिव्य औषधि कैसे प्रकट होती ? इसलिए तुम दुःख न करो। और तब कैकेयी ने अपने मन के तीव्र लोभ की निरर्थकता को देखा। अरे, जिस भरत के लिए मैंने इतना लोभ किया, उसने मुझसे कैसा व्यवहार किया, मेरी भर्त्सना की, मेरे राज्य के प्रस्ताव को अस्वीकार किया, जिसके कारण मैं विधवा हो गयी, मुझ पर कितना बड़ा कलंक लगा, समाज से तिरस्कृता हो गई और अन्त में भरत ने राज्य को अस्वीकार कर त्याग का जीवन स्वीकार कर लिया। उन्हें लोभ की व्यर्थता स्पष्ट दिखाई देने लगी। और

भगवान राम के हृदय से लगने के बाद क्रोध की व्यर्थता दिखाई देने लगी। परिणाम यह हुआ कि सन्निपात शान्त हो गया और रामराज्य की स्थापना हुई। लेकिन लंका में जो सन्निपात था, वह पेट का था। उसमें कुछ पचता ही नहीं था। अब दवा ही न पचे तो लाभ कहाँ से हो। वहाँ पर सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि बड़े-बड़े वैद्य गये और जितनी दवा दी गयी, रावण को उनमें से एक भी नही पचा। रावण को कभी पश्चाताप नहीं होता कि उसने श्री सीताजी का हरण करके कोई भूल की है। उसे कभी इस बात पर पश्चाताप नहीं होता कि उसने अपने भाई से सोने की लंका छीनकर कोई भूल की है। उसे इस बात पर भी कभी पश्चाताप नहीं होता कि उसने विभीषण पर क्रोध करके कोई भूल की है। जब कोई अपने भूल को स्वीकार ही नहीं करता, तब वह असाध्य सन्निपात ग्रस्त हो जाता है। लंका की समस्या यही है। और इस तरह इन दो नगरों के माध्यम से इन दो प्रकार के सन्निपातों को प्रस्तुत किया गया है। गोस्वामीजी ने मानो बताया कि बुराइयों के साथ हमारे अन्तर्मन में ग्लानि उत्पन्न होना, यह रोग को विनष्ट करने की सबसे पहली शर्त है।

जागृति के संदेशवाहक : स्वामी विवेकानन्द

स्वामी आत्मानन्द

भारत की युगों से सुप्त राष्ट्रीय चेतना को जिन लोगों ने जगाने का प्रयास किया उनमें स्वामी विवेकानन्द का नाम हमारे सम्मुख प्रमुख रूप से आता है। वे ऐसे मनीषी थे जिन्होंने देश में व्याप्त हताशा के रोग को जड़ से पकड़ा था और वे उसका समूल उच्छेद चाहते थे। उन्होंने देखा था कि प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक भाषा होती है और वह उसी भाषा के माध्यम से आत्मचैतन्य को प्राप्त हो अपनी हताशा को दूर कर सकता है। भारत के लिए वह भाषा, उनकी दृष्टि में, धर्म था। उन्होंने हमें बतलाया कि हम भारत में समाज अथवा राजनीति के क्षेत्र में जो कुछ करना चाहें, उसे धर्म के माध्यम से ही सम्पन्न करना होगा। उन्होंने अपने जीवन और कार्यों के द्वारा इसी सिद्धान्त को रूपायित करने की चेष्टा की और इस प्रकार भारत की राष्ट्रीयता को जगाकर उसे पोषित और प्रोत्साहित किया। शिकागो में भरी धर्ममहासभा में उन्हें जो महान सफलता प्राप्त हुई, उसने भारतीयों में भरी नैराश्य और हताशा की अमानिशा को चीरकर उनमें अपनी महानता के प्रति गर्व का अनुभव भरते हुए परोक्ष रूप से भारत की राष्ट्रीयता को जगा दिया। रामनाद के लोगों ने स्वामीजी को मानपत्र देते हुए कहा था, "पाश्चात्य देशों में आपके प्रयत्नों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से और काफी हद तक कितने ही उदासीन भारतीय स्त्री-पुरुषों में यह भाव जागृत हो गया है कि उनका प्राचीन धर्म कितना महान तथा श्रेष्ठ है।" कुम्भकोणम के लोगों ने भी स्वामीजी की अभ्यर्थना करते हुए इसी स्वर को ध्वनित करते हुए कहा, "अपने महान कार्य में आपने जो

सफलता प्राप्त की है, उससे ··· हम भी इस बात का अनुभव करने लगे हैं कि एक जाति के नाते हमें भी अपनी अतीत सफलताओं तथा उन्नति पर गर्व करने का अधिकार है ··· तथा हिन्दू जाति का भविष्य निश्चय ही उज्ज्वल तथा आशाजनक है, इसमें सन्देह नहीं ।"

तभी तो रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपने 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा, "विवेकानन्द ने भारतीय संस्कृति की जो सेवा की, उसका मूल्य नहीं चुकाया जा सकता । उनके उपदेशों से भारतवासियों ने सीखा कि भारतवर्ष का अतीत इतना उज्ज्वल और महान है कि उसके प्रति गौरव और अभिमान होना ही चाहिए । उनके उपदेशों से हमें यह ज्ञात हुआ कि हमारी प्राचीन संस्कृति प्राणपूर्ण एवं आज भी विश्व का कल्याण करनेवाली है। ··· विवेकानन्द के उपदेशों से ही भारतवासी अपने पतन की गहराई माप सके, अपने शारीरिक क्षय एवं आधिभौतिक विनाश, अपनी क्रियाविमुखता और आलस्य तथा अपने पौरुष के भयानक ह्रास को पहचान सके । और विवेकानन्द की वाणी में ही सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का जन्म हुआ एवं लोगों में अपने भविष्य के प्रति उज्ज्वल आशा संचरित हुई ··· ।"

इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि स्वामीजी ने जागृति का जो शंखनाद किया, उसने केवल भारत की जनता की भावुकता को बढ़ाया । वास्तव में उन्होंने तो देशवासियों के समक्ष अपने अग्नि-मंत्रों से जागृति के सुदृढ़ मूल आधारों को ही प्रस्तुत किया ।

इन आधारों में सर्वप्रथम था मनुष्यत्व का आदर्श, जिस पर स्वामीजी ने सर्वाधिक बल दिया । जब वे दूसरी बार

पश्चिम की यात्रा पर जा रहे थे तो १९ जून १८९९ ई० को उन्होंने बेलूड़ मठ के अन्तेवासियों को उद्‌बोधित करते हुए कहा था, "स्मरण रखो कि इस संघ का उद्देश्य मनुष्य का निर्माण करना है । तुम्हें केवल यही नहीं जानना है कि ऋषियों ने क्या सिखाया था । वे ऋषि तो चले गये हैं और उनके साथ उनके मतामत भी । तुम्हें स्वयं ऋषि होना होगा । ... तुम्हें अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए । तुम्हें यह नया तरीका—मनुष्य-निर्माण का तरीका अपनाना होगा । सच्चा मनुष्य वह है, जो बल के समान ही बली है और साथ ही जिसके नारी का हृदय है । जो लाखो लोग तुम्हारे इर्द-गिर्द हैं, उनके लिए अनुभव करो और साथ ही दृढ़ और अनमनीय होओ ।" इस प्रकार उन्होंने मनुष्य-निर्माण का वह नया तरीका देशवासियों के समक्ष प्रस्तुत किया, जिसका ईश्वर था मानवता और लक्ष्य या धर्म था समाजसेवा ।

जागृति के दूसरे आधार के रूप में स्वामीजी ने उदारता और सर्वग्राहकता का आदर्श रखा । उनकी देश की उत्थान-योजना में जनसाधारण का शामिल होना इसी आदर्श की स्वाभाविक उपपत्ति थी । वे तत्कालीन प्रचलित नरम दल की माँगों-वाली राजनीति में विश्वास नहीं करते थे । उन्होंने उन नरम नीतियों में यह सामर्थ्य नहीं देखी कि व राष्ट्रीय एकता साधित कर सकतीं । फिर तत्कालीन राजनीतिक दल में ऊँचे तबके के ही लोग अधिक थे, उसका जन समुदाय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था । इधर स्वामीजी जनसाधारण को उठाने के हिमायती थे । उनकी योजना में सभी को अपनी उन्नति के लिए समान अवसर उपलब्ध था । वे मानते थे कि देश के जनसाधारण

की दुर्दशा उच्च वर्ग के लोगों के अत्याचार के कारण हुई, जिन्होंने उन्नति के सभी साधनों पर अपना एकाधिकार कर लिया था। अतः देश को उठाने के लिए स्वामीजी सबका ध्यान इस पीड़ित और बेबस जनसमुदाय की ओर आकर्षित करते हैं। उनकी दृष्टि में भारत-राष्ट्र इन्हीं पीड़ितों और पददलितों का एक विराट् समुदाय था। वे कहते हैं, "ऐ बच्चों ! सबके लिए तुम्हारे दिल में दर्द हो —— गरीब, मूर्ख, पददलित मनुष्यों के दुःख का तुम अनुभव करो, समवेदना से तुम्हारे हृदय का रक्त रुक जाय, मस्तिष्क चकराने लगे, तुम्हें ऐसा प्रतीत हो कि हम पागल तो नहीं हो रहे हैं।" और उनके इस आह्वान का जो परिणाम हुआ, उसके सम्बन्ध में रोमाँ रोलाँ ,लिखते हैं, "स्वामीजी के निर्मम कशाघात से भारत ने सोते में पहली बार करवट ली और पहली बार उसने अपनी प्रगति का शंखनाद सुना। उसे अपने ब्रह्म का बोध हुआ। भारत ने यह स्वप्न कभी विस्मृत नहीं किया। उसी से तन्द्रालस विशाल भारत का जागरण आरम्भ हुआ। विवेकानन्द के निधन के तीन वर्ष पश्चात् तिलक और गाँधी के महान् आन्दोलन के श्रीगणेश के रूप मे जो बंग-विद्रोह आगत पीढ़ी के सामने हुआ, और मद्रास में आज तक जो संगठित जन-आन्दोलन हुए, वे सब (स्वामीजी द्वारा दिये गये) 'मद्रास के सन्देश' में निहित 'लाजारस आगे बढ़ो' की गुरु-गम्भीर पुकार के कारण हुए, जिसने बहुतों को जगाया है।"

जागृति के तीसरे आधार के रूप में स्वामीजी ने देश की आत्मनिर्भरता पर बल दिया। इस आत्मनिर्भरता की साधना को उन्होंने देशभक्ति की अभिधा

दी। उन्होंने कहा, "तुम्हें किसी भी प्रकार की विदेशी सहायता पर निर्भर नहीं रहना है। व्यक्ति की भाँति राष्ट्र को भी अपनी सहायता आप ही करनी होगी। यही सच्ची देशभक्ति है।" वे विदेशी जातियों के गुणों को ग्रहण करने की बात तो करते थे, पर उन लोगों का अन्धानुकरण, उनकी दृष्टि में, राष्ट्र की उन्मेषकारी आत्मचेतना क लिए घातक था। इसीलिए उन्होंने एक लेख में लिखा था, "वर्तमान लेखक को पाश्चात्य समाज का कुछ प्रत्यक्ष ज्ञान है। इसी से उसका विश्वास है कि पाश्चात्य-समाज और भारत-समाज की मूल गति और उद्देश्य में इतना अन्तर है कि पाश्चात्यों के अनुकरण पर गठित समाज इस देश में किसी काम का न होगा।"

जागृति के चौथे आधार के रूप में उन्होंने राष्ट्र देवता की भक्ति प्रतिपादित की। वे इस शक्ति का आह्वान करते हुए कहते है, "सब मिथ्या देवी-देवताओं को भुला दो, पचास वर्ष तक कोई उनका स्मरण न करे। यह हमारी जाति ही एकमात्र ईश्वर है।... हमारे सर्वप्रथम आराध्य हैं हमारे देशवासी, हमारे जातीय बन्धु।" भारत के नौजवानों की नसों में विद्युत-संचार करते हुए उन्होंने अमेरिका से लिखा, "तथाकथित धनिकों पर भरोसा न करो, वे जीवित की अपेक्षा मृत ही अधिक हैं। आशा तुम लोगों से है— जो विनीत, निरभिमानी और विश्वासपरायण हैं।... दुखियों का दर्द समझो और ईश्वर से सहायता की प्रार्थना करो— वह अवश्य मिलेगी। मैं बारह बर्ष तक हृदय पर यह बोझ लादे और सिर में यह विचार लिए बहुत से तथा-कथित धनिकों और अमीरों के दर-दर घूमा। हृदय का

रक्त बहाते हुए मैं आधी पृथ्वी का चक्कर लगाकर इस अजनबी देश में सहायता माँगने आया।....भगवान्...मेरी सहायता करेगा। मैं इस देश में भूख या जाड़े से भले ही मर जाऊँ, परन्तु युवकों, मैं गरीबों, मूर्खों और उत्पीड़ितों के लिए इस सहानुभूति और प्राणपण प्रयत्न को थाती के तौर पर तुम्हें अर्पण करता हूँ। जाओ इसी क्षण जाओ उस पार्थसारथी के मन्दिर में. जाकर साष्टांग प्रणाम करो और उनके सम्मुख एक महाबलि दो, अपने समस्त जीवन की बलि दो. . .और प्रतिज्ञा करो कि अपना सारा जीवन इन तीस करोड़ लोगों के उद्धार-कार्य में लगा दोगे, जो दिनों-दिन अवनति के गर्त में गिरते जा रहे हैं।. . .प्रभु की जय हो, हम अवश्य सफल होंगे। इस संग्राम में सैकड़ों खेत रहेंगे पर सैकड़ों उनकी जगह खड़े हो जायेंगे। . . .विश्वास, सहानुभूति—दृढ़ विश्वास, ज्वलन्त सहानुभूति चाहिए। जीवन तुच्छ है मरण भी तुच्छ है,... जय हो प्रभु की! आगे कूच करो—प्रभु हमारे सेनानायक हैं! पीछे मत देखो कि कौन गिरा, . . .आगे बढ़ो, बढ़ने चलो!" "उत्तिष्ठत. जाग्रत. प्राप्य वरान्निबोधत—उठो, जागो और लक्ष्य की प्राप्ति तक रुको मत!"

तो यह वह जागृति का सन्देश था जिसके उद्गाता विवेकानन्द, जवाहरलाल नेहरू की दृष्टि में "हताश और गिरे हुए हिन्दू मानस के लिए जीवनौषधि बनकर आये और उसे आत्मविश्वास प्रदान किया।"

卐

स्वामी सुबोधानन्द से वार्तालाप

जगन्नाथ बसुराय

(पूज्यपाद खोका महाराज श्रीरामकृष्णदेव के अन्तरंग पार्षदों में अन्यतम थे। १९२९-३० ई. के दौरान उनके कुछ वार्तालापों तथा उपदेशों को लेखक ने अपनी डायरी में लिपिबद्ध कर लिया था। अपने मूल बंगला रूप में यह उद्‌बोधन मासिक के अक्तूबर १९८६ अंक में प्रकाशित हुआ था। इन वार्तालापों में सुबोधानन्दजी ने श्रीरामकृष्ण विषयक अपने कुछ अन्तरंग संस्मरणों का भी वर्णन किया है, इस कारण यह लेख विशेष मूल्यवान बन पड़ा है। प्रस्तुत है उसका अविकल हिन्दी अनुवाद।—सं.)

२७ दिसम्बर १९२९ ई.

आज दस बजे के बाद 'उद्‌बोधन' गया था। वहाँ पहुँचकर मैं पूजनीय खोका महाराज (स्वामी सुबोधानन्दजी) का दर्शन करने ऊपर गया। पता चला कि वे स्नान करने जा रहे हैं।

माँ के पूजागृह में जाकर मैंने ठाकुरजी का दर्शन किया। ठाकुर को प्रणाम करने के उपरान्त मैं शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्दजी) का कमरा देखने गया। थोड़ी देर बाद मैंने देखा कि खोका महाराज मन्दिर की ओर आ रहे हैं, अन्दर प्रवेश करने के पूर्व उन्होंने सूर्यदेव की ओर देखते हुए उन्हें प्रणाम किया। फिर मन्दिर में प्रणाम करके वे भोजन करने को गये। मैं नीचे जाकर उनकी प्रतीक्षा करने लगा।

थोड़ी देर बाद एक संन्यासी महाराज ने मुझे पुकारा ऊपर जाकर देखा तो वे (सुबोधानन्दजी) बैठे हुए थे। मेरे प्रणाम करने पर वे बोले, 'कल तुम्हें मठ में देखा था न?' उत्तर में मैंने बताया कि पिछले दिन महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द) की जन्मतिथि के उपलक्ष्य

में मैं (बेलुड़) मठ गया था और वहाँ उनका दर्शन करने के बाद मैंने उन्हें प्रणाम किया ।

महाराज बोले, "मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, इसीलिए जल्दी भोजन कर लेता हूँ ।" मुझे थोड़ी देर प्रतीक्षा करनी पड़ी थी, शायद इसी कारण उन्होंने यह बात कही । मेरा परिचय आदि जान लेने के बाद उन्होंने अपने स्वास्थ्य के बारे में बताया कि उनकी तबीयत इतनी बिगड़ गयी थी कि चिकित्सकों को बिल्कुल भी आशा नहीं रह गयी थी । तदुपरान्त वे बोले, "कृष्ण रखें तो कौन मार सकता है और कृष्ण मारें तो कौन रक्षा कर सकता है ? जामातड़ा में था तो लगा कि इस गंगारहित अंचल में ही शरीर छूट जायगा । बीमारी के समय शरीर को हिला तक नहीं पाता था । जिनकी शक्ति है, उन्होंने ही खींच ली थी । कृष्ण के देहत्याग के पूर्व अर्जुन की शक्ति चली गयी थी । तब वे गाण्डीव उठा तक नहीं पाते थे । सारी शक्तियाँ उन्हीं की हैं । जिसके मन में अभिमान होता हो कि मैं साधु हूँ, गृहस्थ से श्रेष्ठ हूँ, वह भी क्या साधु है ? ठाकुर ही सब करा रहे हैं । मैं बड़ा हूँ, मैंने यह किया— ऐसा अभिमान न हो । संसार भी हुआ कहाँ से ? यह भी तो उन्हीं का है ।

"जब मैं पहली बार ठाकुर के पास गया तो वे बोले, 'मैं जानता था कि तू आयेगा ।' यह पूछने पर कि कब पता चला, उन्होंने बताया, 'तेरे जन्म के पूर्व ।' इसके बाद उन्होंने मेरे हाथ को अपने हाथ में लेकर उसका भार देखा । फिर बोले, 'शनिवार अथवा मंगलवार को आना, तुझे सब सिखा दूँगा ।' मैंने कहा, 'जो देना है, अभी दीजिए न !' वे बोले, 'ऐसा भी क्या हो सकता है ? जो

कह दिया है, उसमें परिवर्तन नहीं होगा। और एक दिन आना।' मैंने पूछा, 'मुझे पहले क्यों नहीं बुलाया।' ठाकुर बोले 'समय आने पर ही सब होता है।'

"ठाकुर की गंगाजी पर विशेष भक्ति थी। वे कहते 'गंगावारि ब्रह्मवारि।' किसी के शोक, ताप या मोह से अभिभूत हो जाने पर वे कहते, 'जा थोड़ा गंगाजल पी ले, सब ठीक हो जायगा।' और ठीक हो भी जाता।

"ठाकुर में मैंने और भी एक अद्‌भुत बात देखी है। कमरे में लोग भरे हैं और एक ही उक्ति के द्वारा वे सबके मन की बातों का उत्तर दे देते हैं। फिर बिलकुल बालक का सा भाव भी है। एक दिन (ठाकुर के गले के रोग के समय) मैंने कहा, 'आप चाय पीजिए, इससे आपको लाभ होगा।' सुनकर वे प्रसन्न हुए; फिर राखाल महाराज की ओर उन्मुख होकर उनसे इस विषय में बोले। महाराज ने कहा, 'चाय की गर्मी क्या आपसे सहन होगी ?' उनका सन्देह देखकर ठाकुर ने उसमें भी अपनी सहमति व्यक्त की।

'केशवबाबू (केशवचन्द्र सेन) ने एक दिन ठाकुर को अपने घर में पाकर उनके चरणों में सचन्दन फूल चढ़ाए और कहा, 'यह बात आप किसी को बताइएगा मत। नहीं तो लोग कहेंगे कि मैंने नर-पूजा की है।' ठाकुर का बालकवत् स्वभाव था। उन्होंने विजय (विजयकृष्ण गोस्वामी) तथा और एक जन (खजांची) को कह दिया, 'केशव ने मेरे पाँवों में फूल दिये हैं और यह बात किसी को बताने से मना किया है। तुम किसी से कहना मत।'

"विजयकृष्ण गोस्वामी ठाकुर के पास अनेक बार आये थे। बाद में विजयकृष्ण जब वृन्दावन में थे, तब

में उनके पास चाय पीने जाया करता था। उसी समय एक दिन ठाकुर के बारे में पूछने पर उन्होंने बताया, 'उनके समान कोई दूसरा नहीं देखा। पर जिसके मन का जो भाव है उसे मन में ही रखना उचित है।'

"एक दिन ठाकुर से देवी-देवताओं के बार में पूछने पर उन्होंने बताया कि देवी-देवता सब हैं, उनका दर्शन प्राप्त होता है।"

ठाकुर अपने अवतारत्व के बारे में क्या कहते थे, इस विषय में पूछने पर खोका महाराज बोले–"वे भावावस्था में वह बात कहते थे। फिर अन्य समय वे अपने को दास भी कहते थे। एक दिन उन्होंने मुझसे कहा था, 'यह शरीर तो हाड़-मांस का खाँचा है। इसके भीतर माँ ही खेल रही हैं।....जो राम हैं, जो कृष्ण हैं, वे ही इस शरीर में विद्यमान हैं।' एक दिन उन्होंने अपने सम्बन्ध में मुझसे पूछा, 'क्यों रे, तुझे क्या लगता है ?' तब मैंने कहा, 'देखूं थोड़े दिन, तभी तो कहूँगा !' सुनकर निरभिमान ठाकुर बोले, 'हाँ, एक रुपया भी लोग ठोक-बजाकर देखकर लेते हैं। तू भी भलीभाँति देखकर, परीक्षा करके लेना।"

मैंने यह बताते हुए महाराज से आशीर्वाद की याचना की कि संसार में मन विविध कारणों से विक्षिप्त हो जाता है। उन्होंने कहा, "महापुरुष महाराज के माध्यम से ठाकुर ने ही तुम्हें आशीष दिया है।"

सितम्बर से दिसम्बर १९३० ई०

इस काल के दौरान मैंने कई बार बेलुड़ मठ जाकर स्वामी सुबोधानन्दजी का दर्शन किया। उसी समय

उनका पुनीत सान्निध्य पाने या मेरा सौभाग्य हुआ था। तब विविध विषयों पर उन्होंने मुझसे जो कुछ कहा, वही यहाँ लिपिबद्ध हुआ है।

खोका महाराज ने बताया कि ठाकुर के चरण अत्यन्त कोमल थे, इसीलिए उन्हें जूतों का उपयोग करना पड़ता था। उनके स्वर्णनिर्मित इष्ट-कवच के प्रसंग में महाराज ने कहा कि प्रारम्भ में वे (ठाकुर) उसे धारण करते थे। पर परवर्ती काल में तो उनके शरीर पर जनेऊ तक नहीं टिकता था। तब वे धातु की चीजें स्पर्श नहीं कर पाते थे। उनके लिए किसी अन्य को लोटा ले जाना पड़ता था।

ठाकुरजी की अन्तिम बीमारी के प्रसंग में महाराज बोले, "तब उन्हें बातें करने में कष्ट होता था। एक दिन मैंने ठाकुर से कहा, 'आप इच्छा करने से ही ठीक हो सकते हैं। आप चंगे हो जाइए।' यह बात सुनकर ठाकुर ने मुझसे पूछा, "क्या सचमुच ही तेरा ऐसा विश्वास है?' मैंने कहा, 'हाँ, मेरा ऐसा विश्वास है।'।तब ठाकुर बोले, 'मेरी देह पर हाथ रखकर कह।' मैंने उनका शरीर छूकर कह दिया। ठाकुर बालक-स्वभाव थे, इसीलिए वे पुनः बोले, 'माँ की सौगन्ध कह तो!' मैंने कहा, 'माँ की सौगन्ध।' इस पर ठाकुर बोले, 'तू जो कहता है, वह सत्य है, परन्तु हाड़-मांस, रक्त-पीव से बने इस शरीर को रखने का प्रयास मैं नहीं करूँगा। जो सृष्ट है उसका लय होता है।' तदुपरान्त उन्होंने मुझसे कहा, 'प्रतिज्ञा कर कि अब कभी ऐसा अनुरोध नहीं करेगा।' मुझसे उन्होंने प्रतिज्ञा करा ली।"

एक दिन खोका महाराज ने ठाकुर, स्वामीजी, महापुरुष महाराज और विज्ञान महाराज के बारे में बहुत सी बातें कहीं। अपने बारे में भी बताया। उन्होंने कहा कि ठाकुर किस प्रकार भवतारिणी के साथ बातें करते, किस प्रकार जगन्माता उनके समक्ष उसी मूर्ति में जीवन्त हो उठतीं। फिर महाराज वर्णन करने लगे कि किस प्रकार स्वामीजी एक शिवरात्रि के दिन बेलुड़ मठ के मन्दिर के नीचे ध्यानमग्न होकर दो-तीन घण्टे निस्पन्द बैठे रहे; किस प्रकार स्वामीजी कुली-मजदूरों के साथ अन्तरंग भाव से मिलते। महापुरुष महाराज के प्रसंग में उन्होंने कहा, "महापुरुष को मैंने ठाकुर के पास एक वस्त्र में आते देखा है। वे शरीर पर कुछ डालते नहीं थे। इसी तरह की कठोर साधना वे किया करते थे।"

ठाकुर ने खोका महाराज को देखकर कहा था, "तू तो यहीं का आदमी है।" अपनी दीक्षा के बारे में महाराज ने बताया कि ठाकुर ने जब उनकी जिह्वा पर मन्त्र लिख दिया, तो वे अवर्णनीय आनन्द में डूबकर अचेत के समान हो गये थे। तब ठाकुर ने उनके सिर पर हाथ रखकर कहा था, "माँ उतर आओ, उतर आओ!" इस पर वे प्रकृतिस्थ हुए।

महाराज ने बताया कि ठनठनिया का काली मन्दिर जिनका है, वे उसी वंश के हैं। उन्होंने अपने बाल्यकाल के एक अनुभव की बात बतायी। बचपन में वे अपने भाई-बहनों के साथ एक बड़े बिस्तर पर सोया करते थे। एक बार उनके शोरगुल करने पर उनकी माँ अपने को एक कम्बल से ढँककर हाथ उठाये उन्हें डराने आयी थीं। डर के मारे सबके चिल्ला उठने पर माँ कम्बल फेंककर

कह उठीं, 'अरे मैं ही तो हूँ।' महाराज ने तब माँ की ओर देखते हुए कहा, 'फिर कभी इस प्रकार आने पर मैं नहीं डरूँगा।' इस घटना के द्वारा महाराज ने समझाया कि महामाया को माँ के रूप में पहचान लेने पर फिर भय नहीं रहता।

अपने परिव्राजक जीवन में महाराज पैदल ही कलकत्ता से विन्ध्याचल गये थे। उन दिनों वे रात में किसी के घर में नहीं ठहरते थे। वट वृक्ष के नीचे शयन करते। महाराज ने बताया कि साधु-संन्यासियों के बारे में बंगाली लोगों में बड़ी उत्सुकता होती है। वे लोग तरह तरह के प्रश्न करके उनके चौदह पीढ़ियों की खबर जान लेना चाहते हैं। उत्तर भारत के अथवा अन्य स्थानों के साधु ऐसा नहीं करते। पूजनीय खोका महाराज के सेवक ने एक दिन बताया कि अब भी सोते समय तकिये के नीचे हाथ रखे बगैर महाराज को नींद नहीं आती। इस विषय में महाराज को पूछने पर उन्होंने बताया कि परिव्राजक अवस्था में उन्होंने कितनी ही बार मैदान में या वृक्ष के नीचे खाली जमीन या घास के ऊपर सिर के नीचे हाथ रखकर ही रात वितायी थी। इस प्रसंग में उन्होंने अपने एक रात के अनुभव का वर्णन किया। घटनास्थल विहार अथवा उत्तर प्रदेश का कोई अंचल था। उन्होंने बताया, "रास्ता चलते चलते रात हो जाने पर मैं एक वट वृक्ष के नीचे सो गया था। थोड़ी देर बाद मैंने स्वप्न में देखा कि एक वृद्धा मुझसे कह रही है 'तू उठ यहाँ से। तेरे कारण साँप अपने बिलों से निकल नहीं पा रहे हैं। तू थोड़ा आगे बढ़ जा, वहाँ एक पुलिस थाना मिलेगा, जाकर वहीं सो।' मैंने (स्वप्न में ही)

उनसे कहा, 'वे लोग मुझे वहाँ रहने ही क्यों देंगे ?' वृद्धा ने कहा, 'देंगे। तू वहाँ जाकर दरवाजे पर आघात करना। वे लोग पूछेंगे—कौन है ? तुम कहना—मुसाफिर; इस पर वे लोग तुम्हें वहाँ रहने देंगे।' मेरी नींद टूट गई। वृद्धा के कथनानुसार मैं थाने में जाकर आश्रय पा गया। वह रात मैंने थाने के बरामदे में सोकर बिता दी। अगले दिन सुबह मैंने पेड़ के नीचे जाकर देखा तो वहाँ अनेक बिल थे। पूछताछ से ज्ञात हुआ कि वह स्थान नागों का अड्डा है।" उस दिन श्रोताओं में से किसी ने महाराज से पूछा, "महाराज, वह वृद्धा कौन थी ?" थोड़ी देर तक मौन रहकर महाराज ने उत्तर दिया, "आदिकाल की बूढ़ी-माँ।"

परिव्रज्या के दिनों में कभी कभी वे ऐसे अंचलों से भी होकर गये हैं, जहाँ बाघ का भय था। वहाँ पर भी वे रात में बाहर सोया करते थे। सर्वत्यागी इसी प्रकार निर्भीक हो जाता है।

एक दिन महाराज ने कहा, "जो लोग गृहस्थी में है, उन्हें धन की आवश्यकता है, विविध कर्तव्य हैं। कइयों को उनका प्राप्य देना चाहिए, नहीं तो कठिनाई में पड़ने की सम्भावना है। सबको सन्तुष्ट करके रखने पर ही स्थिर होकर भगवान का चिन्तन किया जा सकता है। पहले के दिनों में शव-साधना होती थी। साधक को अपने पास भीगे चने और मद्य आदि रखना पड़ता था। शव जब साधक को फेंक देने का प्रयास करता तब चने और मद्य शव के मुख में डालने पर शव शान्त पड़ा रहता था।

"सारी शक्तियाँ उन्हीं की हैं । नाम जप का फल अवश्य होगा । जैसे जमीन पर बीज चाहे सीधा पड़े या उल्टा, अंकुर निकलेगा ही । सब वे ही हैं, जो अशान्ति देते हैं, वे ही शान्ति देते हैं। नाम जपते-जपते सारी बाधाएँ दूर हो जाती हैं।

"ध्यान और है क्या ! उनका चिन्तन करना-- एकाग्र मन से उनका चिन्तन करना ।"

एक दूसरे दिन महाराज बोले, "उनके समक्ष खूब व्याकुलता के साथ प्रार्थना करना, जैसे कि बच्चा माँ के पास रो-रोकर हठ करता है । प्राण से पुकारो । वे ही सब ठीक कर देंगे ।"

मैंने पूछा, "यदि प्रार्थना सकाम हो तो ?

उन्होंने कहा, "उसमें दोष क्या है ? जिसके लिए पुकार रहे हो, उसमें भी वे हैं--आत्मा के रूप में । उसी आत्मा की सेवा के लिए पुकारना । सोचना कि तुम लोग दास-दासी हो, बड़े आदमी के घर में रहते हो । बाल-बच्चों का भार तुम लोगों पर है--उनकी सेवा करना, यत्न करना, देखभाल करना । दास-दासियों का भी (मालिक के) बच्चों पर अनुराग होता है, बीमारी या कुछ हो जाने पर वे आँसुओं की धारा बहा देते हैं, परन्तु भीतर ही भीतर वे ठीक जानते हैं कि ये उनके अपने नहीं ।

"ध्यान, जप, पूजा करना । नाम में अनन्त शक्ति है । मैंने तुमसे तुलसीदास के एक दोहे की बात कही थी कि बीज चाहे सीधा डालो या टेढ़ा डालो,, पर अंकुर ठीक सीधा ही निकलेगा । जब उनकी ओर मन जाता है तो मेरी कोई भी कामना-वासना नहीं रह जाती । वे चाहे

जिस रूप में दर्शन दें, उसी रूप को दृढ़ता से पकड़ना। जो रूप तुम्हें अच्छा लगे, उसी को पकड़ना! जप के समय सोचना कि वे ही मेरे हृदय में विराजमान हैं। जब कोई काम न रहे, अर्थात् जब मन खाली हो तब मन ही मन नाम का जप करना। सर्वदा नाम-जप करते करते, उनका चिन्तन करते करते स्वप्न में भी उन्हें देख सकोगे।

"गुरु मेहरबान तो चेला पहलवान।

"सम्पूर्ण माया के पीछे महामाया हैं—उन्हें जान लेने पर माया में बद्ध नहीं होना पड़ता।"

उठो ! त्याग की ज्योति जला दो

स्वामी सत्यरूपानन्द

विश्व विजयी होकर भारत लौटने पर नरकेसरी स्वामी विवेकानन्दजी ने अपने प्रथम पौर्वात्य व्याख्यान में घोषणा की, "मैं अब यह दृढ़ निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि भारत पुण्यभूमि है, कर्मभूमि है ।" स्वामीजी ने आगे कहा, "यही है वह जीवनदाता जलधारा जिससे अन्यान्य देशों में लाखों व्यक्तियों के हृदयों को जलानेवाली भौतिकवाद की अग्नि को बुझाया जा सकता है । मित्रो, मुझ पर विश्वास करो, यह होगा ।"

लगभग एक हजार वर्ष की दासता के पश्चात् हम मात्र तीन दशक पूर्व स्वतन्त्र हुए हैं । हजारों देशवासियों के बलिदान के फलस्वरूप हमें यह स्वतन्त्रता मिली है । किन्तु स्वतन्त्रता के साथ साथ दीर्घ दासता का दुष्परिणाम भी हमें भोगना पड़ा– देश का दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन हुआ । विघटनकारी अराष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ आज भी कार्यरत हैं । क्षुद्र राजनैतिक, संकुचित सामाजिक या जातिगत स्वार्थ के लिए लोग देश का अहित करने में भी नहीं चूकते । ईश्वर-विश्वास, धर्म तथा नैतिकता को पाखण्ड कहकर देश को निरे भौतिकवाद तथा भोगकेन्द्रित जीवन की ओर ले जाने का कुटिल प्रयास चल रहा है । शत्रु घात लगाये बैठे हैं ।

इन विकट परिस्थितियों के मध्य निराशा के क्षणों में वीर संन्यासी स्वामी विवेकानन्द की ओजस्वी वाणी हमारा आह्वान कर रही है, उत्तिष्ठित! जाग्रत! ! – उठो, जागो और तब तक बढ़ते रहो जब तक कि लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाय ।

यह लक्ष्य क्या है ? बलिदान ! उत्सर्ग !! आत्माहुति !!! पुण्य भूमि भारत के पुर्ननिर्माण के लिये अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का बलिदान ! अपनी सुख-सुविधाओं का उत्सर्ग ! करोड़ों देशवासियों की सेवा में आत्माहुति !!

हम स्वाधीन भले ही हो गये हों, किन्तु देश के पुन-र्निर्माण का कार्य अभी शेष है । यह कार्य नयी पीढ़ी को करना है । पुर्ननिर्माण सदैव पुरानी नींव पर ही किया जा सकता है । अतः किसी भी पुर्ननिर्माण की योजना के पूर्व हमें उस पुरानी नींव को खोजना होगा कि जिस पर कि पुर्ननिर्माण करना है । यह कार्य स्वामी विवेकानन्दजी ने हमारे लिए कर दिया है । उन्होंने हमें बताया है कि भारत राष्ट्र की नींव है–धर्म और आध्यात्मिकता । भारतीय जीवन का चरम लक्ष्य है मुक्ति ! अतः भावी भारत के पुर्ननिर्माण की किसी भी योजना का आधार होगा– धर्म और आध्यात्मिकता, तथा उसका लक्ष्य होगा मुक्ति ।

जिस पवित्र भूमि के निवासियों का जीवन-लक्ष्य है मुक्ति, जिनके जीवन का प्रत्येक कर्म, धर्म और आध्या-त्मिकता से ओत-प्रोत इस मुक्ति प्राप्ति का प्रयास है, वही भूमि पुण्यभूमि है, वही भूमि कर्मभूमि है । भारत की पवित्र भूमि में सहस्रों वर्षों से यह होता आ रहा है, इसीलिए वह पुण्यभूमि है, कर्मभूमि है। इस पुण्यभूमि और कर्मभूमि के भाव को जनगण के हृदयों में जाग्रत कर उसे उनके दैनन्दिन जीवन में चरितार्थ करना ही भारत का पुर्ननिर्माण है । यही मातृभूमि की सर्वश्रेष्ठ सेवा तथा अर्चना है ।

भौतिकवाद की अग्नि में संसार झुलस रहा है। इसने व्यक्ति के जीवन को भोगपरायण बना दिया है। भोगवादी व्यक्ति स्वार्थी होता है, क्योंकि भोग और स्वार्थ साथ साथ चलते हैं। स्वार्थ के कारण व्यक्ति के जीवन में प्रतियोगिता, प्रतिहिंसा, लोभ आदि वृत्तियाँ प्रबल हो उठती हैं। उसका विवेक लुप्त हो जाता है। फिर वह अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए उचित अनुचित का ध्यान न रखकर सभी कुछ करने को प्रस्तुत रहता है। इस प्रकार व्यष्टि और समष्टि दोनों का जीवन कलहपूर्ण हो जाता है। यही कलह घनीभूत होकर क्षेत्रीय तथा विराट् विश्वयुद्ध के रूप में विस्फोटित होता है। इस सारे दुर्भाग्यपूर्ण विनाश और अशान्ति के मूल में है भौतिकवादी जीवनादर्श तथा भोगपरायण जीवन। यह आदर्श इस भौतिक जगत को ही चरम सत्य मानता है तथा भोग को ही मनुष्य जीवन का लक्ष्य निर्धारित करता है।

भौतिकवाद की इस ज्वाला से संसार को बचाने का उपाय क्या है? क्या है वह जलधारा जिससे भोगवाद की इस विनाशकारी ज्वाला को बुझाया जा सके?

जीवन का आध्यात्मिक आदर्श ही वह उपाय है जिससे विश्व को विनाश से बचाया जा सकता है, तथा भोगवाद में जल रहे मानव हृदय को शान्ति दी जा सकती है।

आदर्श तो है, किन्तु इस आदर्श की व्यावहारिकता विश्व के सामने रखनी होगी तभी विश्व इसे स्वीकार करेगा। इस आदर्श की व्यावहारिकता को प्रदर्शित करने का महान दायित्व भारतवर्ष के कन्धे पर है। आज सारा विश्व त्राणार्थी होकर भारत की आध्या-

त्मिकता की ओर देख रहा है ।। उसे भारत से बड़ी आशाएँ हैं । यदि समय रहते भारत ने विश्व की इस आशा को पूर्ण नहीं किया तो यह मानवता के प्रति अन्याय होगा जिसका दण्ड भारत को भी भोगना पड़ेगा । विश्व विनाश की विभीषिका में भारत भी अछूता न रह पायेगा । भौतिकता की विनाशकारी ज्वालाएँ उसे भी नष्ट कर देंगी ।

इस दायित्व को वहन करने का गुरुभार भारत की युवा पीढ़ी पर है । व्यक्ति व्यक्ति से मिलकर ही राष्ट्र बनता है । राष्ट्र का आदर्श जब व्यक्ति के जीवन में आचरित होता है तभी वह राष्ट्रीय आदर्श के रूप में विश्व के सामने चरितार्थ होता है । जिस राष्ट्र में उस आदर्श का आचरण करनेवाले व्यक्तियों की संख्या जितनी अधिक होती है, वह राष्ट्र उतना ही आदर्शवान होता है । अत: व्यक्ति का आदर्श जीवन यही राष्ट्र की इकाई है, नींव है ।

अपने महान् दायित्व का वहन करने के लिए भारत के नवयुवकों को यह चुनौती स्वीकार करनी है, अपने व्यक्तिगत जीवन में उन्हें इस आध्यात्मिक आदर्श को वरण करना होगा । यह आदर्श क्या है ? ऋषि विवेकानन्द ने मानों एक महामन्त्र के रूप में हमारे सामने यह आदर्श रखा है । वह महामन्त्र है "आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"—अपनी मुक्ति तथा जगत के कल्याण के लिये अपना जीवन समर्पित कर दो । यही वह आदर्श है जिसे भारत को विश्व के मानव-समाज के सामने रखना है, जिसे भारतीय जन समाज में पूर्णरूपेण चरितार्थ करना है । यह आदर्श भारतीय जनजीवन में पूर्णरूपेण

चरितार्थ होगा तभी विश्व का मानव-समाज इसे ग्रहण करेगा और तभी, केवल तभी विश्व को महाविनाश से बचाया जा सकेगा।

इस आदर्श को व्यक्तिगत जीवन में चरितार्थ करने के दो उपाय हैं—पवित्रता और त्याग। मनसा-वाचा-कर्मणा पवित्र हुए बिना आध्यात्मिक जीवन तथा मुक्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः पवित्र होना होगा। बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि के द्वारा जीवन में पवित्रता आती है इसलिए शरीर तथा अपने व्यवहार की सभी वस्तुएँ और अपने आसपास के वातावरण को सदैव शुद्ध रखना होगा। स्वयं स्वच्छ और शुद्ध रहकर ही हम दूसरों को शुद्ध-स्वच्छ रहने की प्रेरणा दे सकते हैं।

दूसरी अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है मानसिक शुद्धि। वास्तव में मानसिक शुद्धि के द्वारा ही व्यक्ति पवित्रता में प्रतिष्टित होता है तथा पवित्रता में प्रतिष्ठित होने पर ही चरित्र बनता है। पवित्रता ही वह दृढ़ आधार है जिस पर चरित्र का महान सौध खड़ा होता है। चरित्रवान व्यक्ति ही राष्ट्र की सच्ची सेवा कर सकता है। उसी के द्वारा वास्तव में जगत हित हो सकता है—अन्य किसी के द्वारा नहीं।

मानसिक शुद्धि के उपाय को यदि एक शब्द मे व्यक्त करना हो तो वह होगा आत्मसंयम। इन्द्रिय-निग्रह, मानसिक शुद्धि और पवित्रता का प्राथमिक सोपान है। अतः सतत अभ्यास द्वारा हमें इन्द्रिय निग्रह की साधना करनी होगी। व्यवस्थित तथा नियमित जीवन यापन करना होगा। इसके साथ ही साथ मन पर नियंत्रण

करने का अभ्यास करना होगा। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि नैतिक गुणों का अपने जीवन में पूर्ण विकास करना होगा। इन उपायों के द्वारा ही हम 'आत्मनो मोक्षार्थं' के लिए प्रस्तुत हो पायेंगे।

किन्तु यह सिक्के का एक पहलू हुआ। दूसरा उतना ही महत्वपूर्ण पहलू है—'जगद्धिताय च'। आदर्श के इस पक्ष का आचरण त्याग और सेवा के द्वारा होता है। हृदय की पवित्रता त्याग और सेवा के रूप में ही तो प्रगट होती है।

स्वार्थ व्यक्ति के चरित्र का सबसे बडा शत्रु है। अतः हमें व्यक्तिगत स्वार्थों को त्यागना होगा, उनसे ऊपर उठना होगा। स्वार्थ त्याग का उपाय है परार्थ जीना। स्वामी विवेकानन्दजी ने हमें एक और मन्त्र दिया, "दूसरों के लिये जीयो।" यही जगत हित का अमोघ उपाय है। निस्वार्थता जब सेवा में चरितार्थ होती है तभी वह व्यावहारिक तथा उपयोगी है। अतः आध्यात्मिक आदर्श की प्राप्ति के लिये हमें सेवापरायण होना होगा। सेवा के विभिन्न आयाम हैं। उन सबको तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) आध्यात्मिक सेवा।

(२) बौद्धिक सेवा।

(३) पदार्थमूलक सेवा।

मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ सेवा है उसको आध्यात्मिक सहायता करना, उसे आध्यात्मिक ज्ञान देना, आत्मानुभूति के पथ पर उसे अग्रसर कराना। किन्तु यह आध्यात्मिक सेवा वही कर सकता है जो स्वयं आध्यात्मिक अनुभूति

सम्पन्न हो। ऐसे आध्यात्मिक महापुरुष अति विरल हैं। वे स्वयं संसार के लिये आदर्श हैं, उन्हें किसी आदर्श की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः हम सभी के जीवन का प्रयोजन ही है, इस प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त करना।

द्वितीय श्रेणी की सेवा है बौद्धिक सेवा। बौद्धिक सहायता देकर व्यक्ति को आत्मोन्नति के मार्ग पर बढ़ाया जा सकता है। उसके दुख-दारिद्रय को दूर किया जा सकता है। अज्ञान हमारे सभी दुखों की जड़ है। बुद्धि का प्रकाश अज्ञानान्धकार को दूर कर हमारे लिये उन्नति का पथ खोल देता है।

बौद्धिक सेवा करने के लिए हमें स्वयं बुद्धि बल अर्जित करना होगा। उचित शिक्षा, प्रशिक्षण तथा कड़े परिश्रम द्वारा यथेष्ठ ज्ञान प्राप्त कर स्वयं को इस योग्य बना लेना होगा कि जिससे हम अज्ञानान्धकार में भटक रहे लोगों को ज्ञान देने में सहायक हो सकें।

अशिक्षा हमारे देश का एक बहुत बड़ा अभिशाप है। इसके कारण करोड़ों व्यक्ति दुःख भोग रहे हैं। उचित शिक्षा मिलने पर वही लोग उन्हीं परिस्थितियों में अपेक्षाकृत उन्नत और सुखी जीवन बिता सकते हैं। अतः शिक्षित व्यक्तियों का यह कर्तव्य है कि अपने आस पास के लोगों में जहाँ भी अशिक्षा है, उसे दूर करने का संकल्प लें, यह व्रत लें कि हम अपनी शक्ति के अनुसार निस्वार्थ भाव से त्यागपूर्वक शिक्षा दान करेंगे। हमने जो शिक्षा पाई है, प्रशिक्षण पाया है, उसका मुक्त हस्त से वितरण करेंगे। स्वयं कष्ट सह कर भी दूसरों की शिक्षा

में सहायक होंगे । शिक्षा तथा उसके उपकरणों द्वारा शिक्षार्थी की यथासाध्य सेवा करेंगे ।

तीसरी श्रेणी की सेवा है पदार्थमूलक सेवा—अन्न, वस्त्र, औषधि, धन आदि के द्वारा दीन-दुखियों की सेवा । कष्ट और विपत्ति में पड़े हुए लोगों को आवश्यक वस्तुएँ देकर उनके दुःख दूर करने की चेष्टा ।

निस्संदेह पदार्थमूलक सेवा आवश्यक तो है, किन्तु वह पर्याप्त नहीं है । क्योंकि पदार्थमूलक सेवा अल्पस्थायी होती है । एक भूखे व्यक्ति को भोजन देकर तत्काल उसे भूख की ज्वाला से बचाया तो जा सकता है, किन्तु एक बार भोजन देकर उसकी समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता । स्वस्थ जीवन के लिये आवश्यक खाद्य उसे पर्याप्त मात्रा में जीवनपर्यन्त मिलता रहे, इसकी व्यवस्था करनी होगी । इस व्यवस्था के लिए उस व्यक्ति को उचित शिक्षा देना आवश्यक है जिससे कि वह स्वयं अपनी जीविका उपार्जन कर सके । यह कार्य केवल पदार्थ मूलक सेवा और सहायता से सम्भव नहीं है । वही सेवा दीर्घस्थायी हो सकती है जो कि दीर्घ काल तक व्यक्ति के अभावों को दूर करने में समर्थ हो । किन्तु इस दीर्घस्थायी सेवा का आरम्भ अल्पस्थायी पदार्थमूलक सेवा से ही होता है । पदार्थमूलक सेवा करने के लिये यह आवश्यक है कि हम अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं को सीमित रखें, संग्रह न करें, अपरिग्रह का अभ्यास करें । क्योंकि आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का उपयोग करना या उनका संग्रह करना, उतनी ही मात्रा में अन्य लोगों को उससे वंचित करना है । स्वयं मितव्ययी और अपरिग्रही

हुए बिना हम कभी भी किसी की उचित रूप में सेवा नहीं कर पायेंगे।

हमारा यह सौभाग्य है कि हमें इस युग में कार्य करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है जबकि सम्पूर्ण मानव जाति ही सक्रान्ति के उस दौर से गुजर रही है, जहाँ उसका अस्तित्व ही संकट में पड़ गया है। इस महान संकट से मानव जाति को वही लोग मुक्त कर सकते हैं जिनके हृदय में त्याग की अखण्ड-ज्योति जल रही है, जिनका चरित्र पवित्रता की पावन सुरभि से सुगन्धित हो उठा है तथा जिनकी हृदय-गंगोत्री से निस्वार्थ-सेवा की कर्म-गंगा अविरल बह रही है।

अमूर्त विवेकानन्द की मूर्त वाणी आज हमारा आह्वान कर रही है--आइए नर नारायण सेवा के इस महायज्ञ में अपने स्वार्थ की, कामना-वासनाओं की आहुति देकर इसी जीवन में हम भी मुक्त हो जाएँ।

○

भगिनी निवेदिता : एक श्रद्धांजलि

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(भगिनी निवेदिता का जन्म २८ अक्टूबर १८६७ को हुआ था। उनकी जन्म-शताब्दी के अवसर पर रामकृष्ण मठ-मिशन के तत्कालीन महाध्यक्ष ब्रह्मलीन स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज ने उनके प्रति श्रद्धांजलि व्यक्त करते हुए जो भाषण दिया था, प्रस्तुत लेख उसी का हिन्दी अनुवाद है।–सं.)

आज हम यहाँ पर एक महान आत्मा की जन्म-शताब्दी मनाने को उपस्थित हुए हैं, जिन्होंने विदेश में जन्म लेकर भी भारत को अपनी मातृभूमि बना लिया था और उसकी सेवा में अपना जीवन समर्पित कर दिया था। हिमालय की गोद में, जहाँ पर उन्होंने अन्तिम साँस ली थी, उनकी स्मृति में एक स्मारक बना हुआ है, जिस पर लिखा है –"यहाँ पर भगिनी निवेदिता चिरविश्राम में लीन हैं, जिन्होंने भारत को अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया था।" यह अक्षरशः सत्य है।

वे आयरलैण्ड में जन्मीं और इंग्लैंड में पलीं, उनका कर्मक्षेत्र रहा भारतवर्ष, पर अपने जीवन एवं कृतित्वों के द्वारा वे समूचे विश्व की हैं। उनके आदर्श-वाद तथा बलिदान की भावना ने उन्हें अमर आत्माओं की श्रेणी में पहुँचा दिया है। उनके माता-पिता निष्ठावान ईसाई थे और जन्म के समय ही उनकी जननी ने उन्हें ईश्वर की सेवार्थ समर्पित कर दिया था। वे भी आत्म-बलिदान एवं सत्यनिष्ठा आदि गुणों से विभूषित थीं। उनके अन्दर निहित समर्पण की अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए एक महात्मा के जीवन्त संस्पर्श की आवश्यकता थी। सन् १८९५ ई. में जब वे लन्दन में स्वामी विवेकानन्द से मिलीं तो वह भी पूरा हो गया। इस

'हिन्दू योगी' के आकर्षक व्यक्तित्व के प्रभाव में न आने की उनकी सावधानी तथा अपनी स्वाधीन विचारधारा के बावजूद, वे स्वामीजी की महानता और उनके संदेश की उदात्तता के सम्मोहन में आ गयीं। फल यह हुआ, जैसा कि उन्होंने बाद में कहा था–"मैंने उनकी वीरतापूर्ण प्रकृति को पहचान लिया और उनके स्वदेशवासियों के प्रति स्नेह का सेवक बनने को उत्सुक हो गयी।"

भगिनी निवेदिता भारत को स्वामी विवेकानन्द की एक अनुपम भेंट थीं। स्वामीजी ने पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति में दृढ़बद्धमूल इन प्रतिभाशालिनी महिला को वहाँ से उखाड़कर भारतीय भूमि में प्रतिरोपित किया था, तथा उसमें जड़ें जमाने को बाध्य किया था। भगिनी निवेदिता जैसी वीरहृदय महिला के लिए भी यह परिवर्तन पीड़ादायक था, परन्तु अन्त में वे सफल हुईं। एक ऐसे आचार्य का शिष्य बनना तथा उनकी इच्छा के अनुरूप भारत का एक सेवक बन पाना कोई हँसी-खेल न था। परन्तु स्वामीजी को मालूम था कि निवेदिता से कितनी अपेक्षा की जा सकती है और उन्हें निराश नहीं होना पड़ा। निवेदिता का अपने गुरुदेव में जो असीम विश्वास था, जिनकी देख-रेख में उनका कठोर आध्यात्मिक प्रशिक्षण हुआ तथा श्री माँ ने उन्हें जो अपनी लाड़ली बच्ची की तरह स्वीकार किया और आशीर्वाद दिया, इन सब ने मिलकर असम्भव को भी सम्भव कर दिखाया। इसके बाद तो उन्होंने विविध कार्यों के माध्यम से अपने आपको भारत की सेवा में समर्पित कर दिया। उन्होंने भारत के नवयुवकों में स्वदेश-प्रेम की प्रेरणा जगायी और स्वाधीनता की बलिवेदी पर अपना जीवन

समर्पित करने को उनका आह्वान किया। उन्होंने भारतीय नारियों की शिक्षा तथा अभ्युत्थान के लिए भी कार्य किया। भारतीय सांस्कृतिक आदर्श के विविध क्षेत्रों – यथा कला, शिक्षा, सामाजिक जीवन, धर्म, धार्मिक प्रतीकवाद आदि को पश्चिम के लिए सहजबोध बनाने हेतु उन्होंने बहुत से व्याख्यान दिए थे तथा 'धर्म और, साम्प्रदायिकता', 'भारतीय जीवन का ताना-बाना' 'भारतीय इतिहास की पगध्वनि', 'शिव और बुद्ध' 'काली माता' आदि ग्रन्थों का अँगरेजी में प्रणयन किया था। उन्होंने अपने समय के अनेक भारतीय लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों को प्रभावित किया था।

शिक्षा के क्षेत्र में निवेदिता का जन्मजात अधिकार था और वे उसके लिए आवश्यक दृष्टिकोण एवं गुणों से सम्पन्न थीं। भारत में बालिकाओं की शिक्षा के लिए उन्होंने एक स्कूल खोला था, जो आज 'निवेदिता बालिका विद्यालय' के रूप में विख्यात है। इसके अलावा भारत में 'राष्ट्रीय शिक्षा' की आधारशिला रखने में भी उनका बहुत बड़ा योगदान रहा है।

कला, साहित्य, विज्ञान, शिक्षा, पत्रकारिता एवं राजनीति के क्षेत्रों से अनेक महत्वपूर्ण व्यक्ति उनकी ओर आकृष्ट हुए। उन्होंने उन लोगों को उनके अपने कार्यक्षेत्र में प्रेरणा और सहायता प्रदान की। उनका चारित्रिक बल, सरल हृदय, मौलिकता तथा अहंकार-शून्यता ने बहुतों को उनके प्रति प्रेमपूर्ण उद्‌गार व्यक्त करने को विवश कर दिया था। उनमें सबसे महत्वपूर्ण प्रशस्ति थी – 'भगवान की प्रफुल्ल बच्ची'। उनकी अन्तर्निहित पवित्रता तथा उनके गुरुदेव एवं श्री माँ के

आशीर्वाद ने मिलकर मार्गरेट ई. नोबल को 'ज्योतिर्मयी देवकन्या' में परिणत कर दिया था।

भारत की यथासाध्य सेवा करते हुए उनकी यह धारणा बन गयी थी कि राजनीतिक स्वाधीनता के बिना राष्ट्र का निर्माण सम्भव नहीं। रामकृष्ण मिशन ने अपने संस्थापक स्वामी विवेकानन्द के आदेश पर अपने आपको राजनीति से पूर्णरूपेण अलग रखने का निर्णय लिया था। इसलिए निवेदिता मिशन पर आँच नहीं आने देना चाहती थीं। अतः संघ तथा अपनी अन्तरात्मा के प्रति वफादार होने के लिए उन्होंने मिशन से त्यागपत्र दे दिया, ताकि वे स्वाधीनतापूर्वक राजनीति में भाग ले सकें; तथापि उन्होंने अपना आध्यात्मिक सम्बन्ध बनाये रखा। स्वामीजी के गुरुभाइयों ने भी उनके साथ पूर्ववत् ही स्नेहभाव बनाये रखा। वे भी पहले के समान उनके साथ अपनत्व बनाये रहीं। संघ की सुरक्षा को ध्यान में रखकर ही उन्होंने उससे औपचारिक तौर पर सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था, अन्य किसी भी दृष्टिकोण से नहीं। कुछ क्षेत्रों में लोगों के द्वारा, जो इस निर्णय के पीछे की सत्यकथा नहीं जानते थे, उनके इस कार्य का अनुचित अर्थ लगाया गया। निःसन्देह उनके लिए यह बड़ा ही पीड़ादायी था, परन्तु फिर भी उन्हें लगा कि अपने प्रिय संघ के प्रति तथा अपनी अन्तरात्मा के प्रति वफादार होने का एकमात्र यही रास्ता था।

उनकी राजनीति थोड़े आक्रामक ढंग की थी, और उनमें आवेदनमूलक नरमपन्थी राजनीति के पथ पर चलने का धैर्य न था। इसी कारण उन्होंने 'स्वदेशी आन्दोलन' को अपना पूरा समर्थन प्रदान किया था। अपनी इस उग्र-

वादी राजनीतिक विचारधारा के बावजूद वे विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं वाले नेताओं की मित्र थीं, क्योंकि उन्हें महसूस हुआ था कि एकता लाये बिना स्वाधीनता पाना असम्भव है। "भारत में धर्म को सर्वत्र पुनः प्रतिष्ठित देखना—यह उनका एक स्वप्न था। उनका विश्वास था कि उसी से सम्पूर्ण राष्ट्र एकता के सूत्र में बद्ध होगा—एक सामान्य दुर्बलता में नहीं, एक सामान्य दुर्भाग्य या दुर्दिन में नहीं, वरन् एक महान चिर जाग्रत राष्ट्रीयता के बोध में, सामान्य पैतृक सम्पदा में।"

निवेदिता ने अनेक दुःख-कष्ट सहते हुए कठोर तपश्चर्या का जीवन बिताया था; वे सदा-सर्वदा इसके लिए प्रस्तुत रहतीं। स्वामी विवेकानन्द ने निम्नांकित शब्दों में उनके समक्ष बलिदान का आदर्श रखा था— "पूर्वकाल में भी बलिदान ही नियम रहा है और हाय ! भावी युगों में भी यही नियम रहेगा।" निवेदिता ने गुरु-प्रदत्त इस आदर्श को अपना लिया था, क्योंकि हमें उनके 'काली माता' ग्रन्थ में मिलता है— "अपने लिए दया की अपेक्षा न करो, मैं तुम्हें औरों के लिए दया का महान वाहक बना दूंगी। अपने दुःख के अन्धकार को वीरतापूर्वक स्वीकार करो और तुम्हारा दीप बहुतों के मन को प्रसन्नता से आलोकित कर देगा। तुच्छतम कार्यों को आनन्द के साथ सम्पन्न करो, उच्च पदों की इच्छा का परित्याग कर दो।"

स्वामी विवेकानन्द से, जिन्होंने उनके रूप में मातृभूमि को अपना अतुलनीय उपहार निवेदित किया था, मेरी हार्दिक प्रार्थना है कि इस महान आत्मा का जीवन हमारे नवयुवकों को अपनी मातृ-भूमि की सेवा में सर्वदा प्रेरित करता रहे। □

स्वामी ब्रह्मानन्द के संस्मरण

स्वामी निर्वाणानन्द

(भगवान श्रीरामकृष्ण के एक प्रधान शिष्य स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज आध्यात्मिक भावों के एक महान् आधार थे। यही कारण है कि स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें रामकृष्ण मठ और मिशन का प्रथम अध्यक्ष बनाया था। लेखक महाराज के सेवक थे तथा अपने जीवन के अन्तिम पर्व में काफी काल तक रामकृष्ण संघ के सहाध्यक्ष रहे थे। ये संस्मरण अंग्रेजी मासिक 'वेदान्त केसरी' के दिसम्बर ५६, वेदान्त एण्ड द वेस्ट के मार्च-अप्रैल'६०, मार्च-अप्रैल' ६५ और बंगला मासिक 'उदबोधन' के जनवरी' ६३ के अंकों में प्रकाशित हुए थे; जहाँ से संकलित, संयोजित एवं अनुदित होकर यह लेख प्रस्तुत हुआ है। —सं.)

महाराज * के साथ मेरी पहली भेंट वाराणसी के रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम में हुई। उक्त आश्रम गरीबों व पीड़ितों की भलाई में निरत एक अस्पताल है, जिसमें वहाँ के संन्यासी एवं ब्रह्मचारी रोगियों को भगवान की प्रतिमूर्ति मानकर उनकी सेवा किया करते हैं। इसी उच्च आदर्श से प्रेरणा पाकर, संन्यासी बनने की तीव्र इच्छा के साथ मैं सेवाश्रम में सम्मिलित हुआ। अपनी पहली मुलाकात के पूर्व ही मैंने 'श्रीरामकृष्ण वचनामृत' ग्रन्थ में उनके बारे मे पढ़ रखा था, तथा उनके साथ पत्र-व्यवहार भी कर चुका था। वाराणसी में मैंने श्रीरामकृष्ण के दो अन्य शिष्यों—स्वामी तुरीयानन्द तथा स्वामी शिवानन्द के भी दर्शन किये। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो ये लोग आध्यात्मिकता के संरक्षक हों। सेवाश्रम के कार्यों की व्यस्तता के बीच भी मेरे मन में सतत इच्छा बनी रहती थी

---

*स्वामी ब्रह्मानन्दजी रामकृष्ण संघ में 'महाराज', 'राजा महाराज' व 'राखाल महाराज' के रूप में भी सुपरिचित हैं।

कि मैं कब जाकर महाराज के दर्शन कर सकूँगा। उनकी आँखें सदा ही उनकी सहानुभूति तथा उनके अतीन्द्रिय बोध का आभास दिया करती थीं। श्रीरामकृष्ण ने उनके बारे में कहा था कि उनकी आँखों में उसी शून्यता का भाव है जो कि अपने अण्डे सेती हुई एक मुर्गी की आँखों में दीख पड़ती है। उनके तेजोद्दीप्त आनन्दमय मुखमण्डल तथा बालसुलभ सरलता के माधुर्य ने मुझे उनकी ओर और भी अधिक आकृष्ट किया।

अपने दैनन्दिन कार्यों को समाप्त कर लेने के पश्चात् जब कभी मुझे फुरसत मिलती, मैं उनके पास जाने व सेवा करने से न चूकता था। उन्होंने मुझ पर कृपा करके कभी-कभी अपने लिये कुछ पकाने अथवा अपने शरीर की मालिश करने का आदेश दिया था। यद्यपि ऐसा सौभाग्य काफी अल्प समय के लिये मिलता तथापि मैं अपने आपको धन्य मानता। इस प्रकार सेवा करके मैं कभी-कभी आनन्दविभोर हो उठता था मेरे मन में यह पक्का विश्वास हो गया था कि मेरे लिये, महापुरुष का संग करना अतीव आवश्यक है क्योंकि ईश्वर, आत्मा या अन्य अतीन्द्रिय चीजों को समझने या धारण कर पाने का एकमात्र उपाय उनकी कृपा ही है। थोड़े दिनों तक वाराणसी के आश्रम में निवास करने के पश्चात् महाराज जब अन्यत्र चले गये तो मेरे मन में उनके साथ रहने की इच्छा और भी बलवती हो उठी। हृदय से उठी हुई प्रार्थना को भगवान सदैव सुना करते हैं और मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ।

वाराणसी से मैंने महाराज को पत्र लिख कर पूछा था—"क्या ठाकुर सचमुच ही विद्यमान है?" कुछ

दिनों बाद उनका उत्तर मिला—"यह पत्र मिलते ही मठ को चले आओ।" बेलुड़ मठ में पहुँच कर दुमंजले पर अवस्थित कार्यालय (स्वामीजी के कमरे के पास) में महाराज को प्रणाम कर मैं ज्योंही खड़ा हुआ कि वे बोल उठे—"कहीं तेरा सिर तो नहीं फिर गया है ? वे (ठाकुर) सचमुच ही हैं, नहीं तो किसके सहारे हम सारा जीवन पड़े रहते ?"

× × ×

निम्नलिखित घटना सम्भवतः १९१८ ई. के जाड़ों में हुई थी। उन दिनों महाराज कलकत्ते में बलराम बोस के भवन में निवास कर रहे थे; सेवक के रूप में मैं भी उनके साथ था। कलकत्ते के भवानीपुर मुहल्ले की एक भक्त महिला, जो कि महाराज के ही एक शिष्य अचल कुमार मैत्र, सालीसीटर की पत्नी थीं, यदा-कदा उनका दर्शन करने बलराम-भवन में आया करती थीं। वहाँ से वे श्रीमाँ के निवास भवन—उद्‌बोधन कार्यालय को जाती थीं। उद्‌बोधन कार्यालय में स्वामी सारदानन्दजी रहा करते थे, जो उन भक्त-महिला को काफी मानते थे। एक बार उक्त महिला के मन में श्रीरामकृष्णदेव की एक संगमरमर प्रतिमा बनवाने का विचार आया और इस विषय में उन्होंने स्वामी सारदानन्दजी के साथ चर्चा की। सारदानन्दजी ने उन्हें इस कार्य में उत्साहित किया। उन दिनों कलकत्ता के झाऊतला मुहल्ले में एक प्रसिद्ध मराठी मूर्तिकार निवास करते थे। उन्होंने मूर्तिकार की कार्यशाला में जाकर मूर्ति बनाने का आर्डर दिया और शीघ्रातिशीघ्र उस

कार्य को पूरा करने का अनुरोध किया। तदुपरान्त वे यदा-कदा उद्बोधन कार्यालय में आकर सारदानन्दजी को मूर्ति निर्माण में हुई प्रगति से अवगत कराया करती थीं। मिट्टी का मॉडल तैयार हो जाने पर वे सारदानन्दजी के पास आयीं और उनसे उसे देखने और स्वीकृति प्रदान करने का अनुरोध किया।

इस वार्तालाप के कुछ ही दिनों बाद एक दिन प्रातःकाल स्वामी सारदानन्दजी मूर्ति से सम्बन्धित सारी बातों से महाराज को अवगत कराने बलराम-मंदिर आये। उन्होंने महाराज से स्टूडियो में चलकर मूर्ति को स्वीकृत कर देने की अपील की। क्षण भर चुप रहने के पश्चात् महाराज बोले—"शरत्! मैं ठाकुर की कौन सी मूर्ति को स्वीकृति दूँगा? ठाकुर को एक ही दिन में तो अनेक भावों में देखा है। कभी-कभी वे कृशकाय से एक कोने में बैठे दीख पड़ते थे; फिर थोड़ी देर बाद ही अपनी देह व वस्त्रों तक को भूलकर तालियाँ बजाते कीर्तन गाते दीख पड़ते थे। तदुपरान्त कभी वे गहन समाधि में डूब जाते और उस समय उनका मुख दिव्य आनन्द से उद्भासित होता तथा शरीर से दिव्य-ज्योति विकिरित हुआ करती थी। फिर कभी-कभी वे दीर्घ काया में दक्षिणी बरामदे में लम्बे-लम्बे डग भरते हुए टहला करते थे। इन में से कौन से रूप का अनुमोदन करूँगा?"

स्वामी सारदानन्दजी ने विनयपूर्वक कहा—"महाराज, मेरा तात्पर्य उस रूप से है जिसके बारे में उन्होंने बताया था कि इसकी घर-घर में पूजा होगी। आपको उसी भाव वाली मूर्ति को स्वीकृति देनी होगी।"

महाराज ने मुस्कुराते हुए कहा—"ठीक है, मैं जाऊँगा।" महाराज को उसी दिन अपराह्न में स्टूडियो ले जाने की तैयारी हुई। उक्त अवसर पर स्वामी शिवानन्द तथा और भी अनेक साधु साथ हो लिये। गोलाप-माँ तथा योगीन-माँ भी वहाँ गई थीं।

महाराज ने अत्यन्त सावधानीपूर्वक मूर्ति का निरीक्षण करने के पश्चात् मूर्तिकार की ओर उन्मुख होकर कहा—"देखिये, आपने ठाकुर को थोड़ा सामने की ओर झुका हुआ बनाया है।"

मूर्तिकार ने उत्तर दिया—"आपका कहना सही है, परन्तु यदि कोई भी अपने हाथों को मिलाकर इस प्रकार अपने पैरों पर रखे तो उसे सामने की ओर थोड़ा झुकना होगा।"

महाराज बोले—"हमने कभी भी ठाकुर को इस प्रकार बैठते हुए नहीं देखा। आपका कहना साधारण मनुष्यों के मामले में सत्य है, परन्तु यह नियम ठाकुर पर लागू नहीं होता। उनकी बाहें इतनी लम्बी थीं कि उनकी हथेलियाँ घुटनों तक पहुँच जाया करती थीं।"

फिर महाराज ने ठाकुर के कानों के बारे में समझाते हुए मूर्तिकार से कहा—"देखिये, आम तौर पर लोगों के कान भौंहों के ऊपर से शुरू होते हैं, परन्तु ठाकुर के कान आँखों की लाईन के नीचे से शुरू हुए थे।"

वहाँ उपस्थित सभी लोग काफी उत्सुकतापूर्वक श्रीरामकृष्ण के शारीरिक गठन की इन विशेषताओं को सुन रहे थे। मूर्तिकार ने महाराज के निर्देशानुसार

मॉडल में सुधार करना स्वीकार करते हुए कहा––"आप कृपया एक सप्ताह बाद आयें, तब तक मैं मॉडल बनाने का कार्य पूरा कर लूँगा।"

एक सप्ताह बाद महाराज सबको साथ लेकर पुनः स्टूडियो में गये और सुधारे हुए मॉडल को देखकर पूर्ण सन्तोष व्यक्त करते हुए कहा––"अब यह बिल्कुल ठीक है।" मॉडल इतना सजीव हो उठा था कि उपस्थित सभी लोगों ने उसमें ठाकुर की साक्षात् उपस्थिति का बोध किया। थोड़े दिनों बाद संगमरमर की मूर्ति तैयार हो गई तथा उन भक्त महिला को सौंप दी गई। इस मूर्ति में ठाकुर का रूप ठीक-ठीक अभिव्यक्त हुआ था, परन्तु संगमरमर पर काले धब्बे उभर आने के कारण चेहरे का भाव बदल गया, जिसकी वजह से मूर्ति को पेन्ट से ढक देना पड़ा था। उन भक्त के दिवंगत होने के पश्चात् उस मूर्ति की वाराणसी के श्रीरामकृष्ण अद्वैत आश्रम के मन्दिर में स्थापना हुई, जहाँ कि पिछले काफी काल से उसकी प्रतिदिन पूजा होती रही है। आज भी वह मूर्ति वहीं है।

× × ×

श्रीरामकृष्णदेव के निर्देशानुसार स्वामी विवेकानन्दजी ने मठ के संचालन का भार महाराज को सौंप दिया था और स्वामीजी के महासमाधि के पश्चात् महाराज ने इस उत्तरदायित्व को पूर्ण मनोयोग के साथ सँभाला था। उनके असाधारण व्यक्तित्व तथा आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा संघ की दिनों दिन उन्नति होती गई। महाराज का चेहरा देखकर उनमें अन्तर्निहित

शक्तियों तथा उनकी नेतृत्व की क्षमता का अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता था। कर्मों के फल रूप आगत आशा-निराशा, आत्मसम्मान एवं शक्ति-प्रदर्शन आदि से वे पूर्णतया मुक्त थे।

महाराज में किसी भी स्थान के वातावरण को परिवर्तित कर उसे आध्यात्मिक भावों से पूर्ण कर देने की अद्भुत क्षमता थी। निकट संपर्क में आने पर वे लोगों को हँसा-हँसाकर लोटपोट कर दिया करते थे, परन्तु दूसरे ही क्षण जब वे अचानक नीरव हो जाते तो सारा वातावरण एक दिव्य उपस्थिति से गम्भीर हो उठता। स्वामी तुरीयानन्दजी ने एक बार कहा था कि महाराज अपने चारों ओर एक ऐसे आध्यात्मिक वाता-वरण की सृष्टि कर लेते थे कि जो कोई भी उस परिधि के भीतर आ जाता, उसमें उनका कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य ही संक्रमित हो जाया करता था। बहुत से लोग अपनी समस्याओं के समाधान पूछने महाराज के पास आया करते थे; परन्तु ज्योंही वे उनके समीप पहुँचते, उन्हें अपना समाधान पूछने की आव-श्यकता ही नहीं प्रतीत होती। समस्याएँ उनकी उपस्थिति में आप से आप सुलझ जाया करती थीं, लोग अपने अहंकार व लौकिक सुख-दु:ख को भूलकर अलौ-किक आनन्द में विभोर हो उठते थे।

नगर हो अथवा वन महाराज सर्वत्र ही अत्यन्त सादा जीवन बिताते थे। वे जहाँ कहीं भी ठहरते संन्यासी व भक्तगण उनके दर्शन को एकत्र हो जाया करते थे और उनके शुद्ध व नि:स्वार्थ प्रेम का आस्वादन पाकर मुग्धचित्त लौटते थे। एक दृष्टि, एक स्पर्श

अथवा उपस्थिति मात्र से ही वे लोगों का मन ऊपर उठाकर उनका जीवन तक बदल डालते थे। यहाँ पर हम उनके जीवन की कुछ ऐसी घटनाओं का वर्णन करेंगे, जो इस कथन का मर्म और भी स्पष्ट कर देती हैं।

श्रीरामकृष्ण के एक भक्त थे देवेन्द्रनाथ बोस, जिनका कि उनके सभी अन्तरंग शिष्यों और विशेषकर स्वामी अखण्डानन्द के साथ अत्यन्त सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध था। ठाकुर के लीलासंवरण के पश्चात् देवेनबाबू कासिम बाजार के महाराजा के दीवान हो गये और कई वर्षों तक वे मठ के संन्यासियों से मिलने न आ सके थे।

एक दिन स्वामी अखण्डानन्दजी की संयोगवश ही देवेनबाबू से भेंट हुई और वे उन्हें अपने साथ बेलुड़ मठ ले आये। महाराज उन दिनों मठ में ही थे। इतने समय बाद देवेनबाबू को देखकर वे विशेष द्रवित हुए। बाद में उन्होंने अखण्डानन्दजी को कहा—"अच्छा गंगाधर! तेरे देवेन को क्या हो गया है? वह तो अब चाल-ढाल, बात-व्यवहार में काफी बदल गया है। उसके चेहरे पर सांसारिक भाव झलकता है और वह कपड़े भी छैल-छबीले पहनने लगा है। क्या उसने ठाकुर तथा हम सब को विस्मृत कर दिया है?"

स्वामी अखण्डानन्द से कुछ कहते न बन पड़ा। परन्तु अगली दफा जब उनकी देवेनबाबू से मुलाकात हुई तो उन्होंने बातचीत के बीच महाराज की सारी बातें उन्हें कह सुनाई।

देवेनबाबू बोले—"पता नहीं क्या बात है, पर मैं अपनी अवस्था से सन्तुष्ट नहीं हूँ।"

कुछ दिनों बाद देवेनबाबू महाराज से मिलने आये। मुझे महाराज के कमरे के बाहर बैठे देखकर उन्होंने पूछा—"महाराज कहाँ है?"

मैंने कहा—"आप कृपया बैठिये। महाराज कमरे में है; मैं उन्हें आपके आगमन की सूचना देता हूँ।"

देवेनबाबू के चेहरे पर चंचलता की स्पष्ट झलक थी और वे चुपचाप बैठ पाने में असमर्थ थे। वे महाराज से मिलने को इतने आतुर थे कि वे उनके कमरे से बाहर आने तक प्रतीक्षा न कर सकते थे। महाराज बाहर निकलने को तैयार हो ही रहे थे कि वे अन्दर घुस गये। देवेनबाबू को देख महाराज उनके समीप आये और उनकी छाती पर अपनी हथेली रख दी और थपथपाते हुए कहने लगे—"क्या हुआ देवेनबाबू? सब ठीक हो जायगा। ठाकुर का चिन्तन कीजिये।"

देवेनबाबू के मन में अचानक ही आमूल परिवर्तन आया। वे महाराज के चरणों में झुक पड़े और बोले, "महाराज, मेरा सांसारिक भाव पूर्णरूपेण जा चुका है। मैं कितना पतित हो रहा था, किन्तु आपकी कृपा व आशीर्वाद ने मुझे ऊपर उठा लिया। अब मुझे कोई भी दुःख या कष्ट नहीं है।" तत्पश्चात् महाराज देवेनबाबू को साथ लिए बाहर पोर्टिको तक आये और मुझे उनको प्रसाद देने का आदेश दिया। उस दिन के बाद से देवेनबाबू प्रायः ही महाराज से मिलने को आया करते थे। उस अवसर पर हुई अनुभूति उनके जीवन पर एक गहरी छाप छोड़ गई थी।

महाराज की महासमाधि के काफी काल बाद मैंने देवेनबाबू से 'धर्म प्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द'* ग्रंथ की भूमिका लिख देने का आग्रह किया था। उक्त लेख का निम्नलिखित अंश विशेष महत्व का है—"जो लोग श्रीरामकृष्णदेव के मानसपुत्र के घनिष्ठ सम्पर्क में आये थे, वे कहते हैं कि महाराज अमित ब्रह्मतेजसम्पन्न थे, उनकी बहुमुखी शक्ति स्रोतस्वती की भाँति शत-शत धाराओं में प्रवाहित होती थी। किन्तु इतना तेज, इतनी शक्ति किस तरह मृण्मय आधार में इतनी शान्त रहती थी, इसे भला कोई कैसे जाने? बिजली का तार देखने में तो निर्जीव है, किन्तु स्पर्श करने से मालूम पड़ता है कि उसमें कितनी अमोघ शक्ति छिपी है। कहते हैं कि ब्रह्मज्ञ पुरुष का शरीर मृण्मय नहीं चिन्मय होता है। किन्तु इन चिन्मय पुरुष के संस्पर्श में आने से यह बात सहज ही समझ में नहीं आती थी। अहा, किस अलौकिक प्रेम से वे सबको भुलाये रखते थे!"†

देवेनबाबू ने मुझसे कहा था—"क्या आपको वह दिन याद है, जब मैं महाराज से मिलने आया था? उन्होंने जब अपनी हथेली से मेरा सीना स्पर्श किया तो मुझे अचानक एक झटका सा लगा था, जिसके फल-स्वरूप मेरी अतीत की स्मृतियाँ ताजी हो उठीं और मैं भक्ति व व्याकुलता से परिपूर्ण हो उठा। ठाकुर की सारी बातें पुनः याद हो आने से मेरी जीवनधारा बिल्कुल ही पलट गई थी।"

* उक्त बंगला ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद 'ध्यान, धर्म तथा साधना' नाम से रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा प्रकाशित हुआ है।
† वही, प्रथम सं०, पृष्ठ १।

१९२१ ई० में श्रीरामकृष्णदेव की जन्मतिथि के अवसर पर वाराणसी के आश्रम में उनके पुराने विग्रह-पट के स्थान पर नवीन पट की स्थापना होनेवाली थी। इस उपलक्ष्य में स्वामी सारदानन्द, स्वामी तुरीयानन्द और स्वामी सुबोधानन्द भी वहाँ उपस्थित थे। विशेष पूजा हो जाने के पश्चात वेदपाठ तथा भजन आदि होने लगे। महाराज ने किसी को श्रीरामकृष्ण के सम्बम्ध में रचित "एसेछे नूतन मानुष" भजन गाने का अनुरोध किया। उक्त भजन शुरु होने के साथ ही महाराज उठ खड़े हुए और भावावेश में नाचने लगे। स्वामी तुरीयानन्द और स्वामी सारदानन्द भी उसमें सम्मिलित हो गये। तत्पश्चात् वहाँ उपस्थित सभी संन्यासियों, भक्तों और यहाँ तक कि छोटे बच्चों ने भी उस नृत्य में भाग लिया। सभी लोग आनन्दविभोर होकर जगत् को विस्मृत कर बैठे।

लोग उस अलौकिक आनन्द में तन्मय थे कि उसी समय एक भक्त वहाँ आए और महाराज व स्वामी तुरीयानन्दजी से फुसफुसाकर कहने लगे कि भोजन का समय हो चुका है। तुरीयानन्दजी ने उन्हें वापस लौटाते हुए कहा– "वह आदमी कैसा नासमझ है! ऐसा अवसर दुर्लभ व धन्य है और उसे भोजन ही अधिक महत्वपूर्ण लग रहा है। महाराज अपनी आध्यात्मिक शक्तियाँ व भाव प्रायः गुप्त ही रखते हैं, परन्तु आज वे अभिव्यक्त हो उठी हैं। उन्होंने हमारी चेतना को उपर उठा दिया है।"

× × ×

महाराज अपने आश्रितों को कैसे नियंत्रित किया करते करते थे, अधोलिखित घटना इसका उदाहरण है–

मठ के तीन युवा ब्रह्मचारी अपने पूर्वजीवन में क्रान्तिकारी आन्दोलन से सम्बद्ध थे। मठ में प्रवेश लेने के बाद भी उन पर पुलिस की नजर थी। हर तीसरे दिन आकर वे उनकी मठ में उपस्थिति का सत्यापन किया करते थे।

एक बार ये युवक कहीं तीर्थ दर्शन को गए और समय पर मठ न लौट सके, जिसके फलस्वरूप महाराज को बड़ी परेशानी हुई। आखिरकार जब वे मठ को लौटे तो महाराज ने उनकी अच्छी खबर ली तथा मठ से निष्कासित कर दिया। बाहर जाते समय मुख्य द्वार के पास उन लोगों की मुलाकात स्वामी प्रेमानन्द से हुई। उनकी आपबीती सुनने के पश्चात् प्रेमानन्दजी ने उन्हें सलाह दी कि वे मठ-परिसर से बाहर न जायं तथा एक वृक्ष के नीचे छिपकर प्रार्थना करें। उन लोगों ने वैसा ही किया।

दोपहर को भोजन करते समय महाराज ने मुझे कलकत्ते से कुछ अच्छे पकवान मँगवा लेने का आदेश दिया, जिन्हें मैंने दो घन्टे के भीतर मँगवा कर रख लिया। दोपहर को थोड़ा आराम करने के बाद उठकर महाराज ने मुझसे पूछा कि उनके आदेशानुसार मैंने वे विशेष पकवान मँगा लिये हैं अथवा नहीं। मैंने उत्तर दिया– "जी महाराज, सब कुछ तैयार है।" मुझे इसका भान तक न था कि यह सब व्यवस्था किसके लिये की जा रही है।

तदुपरान्त उन्होंने कहा– "क्या तुम्हें पता है कि वे तीनों ब्रह्मचारी कहाँ पर हैं?"

मैंने उत्तर दिया– "नहीं महाराज! मैंने उन्हें नहीं देखा।"

महाराज बोले –"जाओ ढूँढ़ कर लाओ ।"

मैं उन्हें ढूँढ़ते हुए बगीचे में गया तथा शीघ्र ही एक पेड़ के तले पाकर, उन्हें जाकर महाराज से मिलने को कहा । महाराज ने उन्हें वह घटना बिल्कुल ही भूल जाने को कहा तथा बोले–"देखो हम लोग साधु हैं और हमारा क्रोध जल पर बने चिह्न के समान है ।...अब यह खाना खा लो !"

निम्नलिखित घटना महाराज की बालवत् सरलता व विनोदप्रियता का सुन्दर नमूना है– बेलुड़मठ में निवास करते समय एक दिन महाराज के पेट में थोड़ी गड़बड़ी थी, अतः उन्होंने मुझे बताया कि वे रात को कुछ नहीं खायेंगे । स्वामी प्रेमानन्द के पूछने पर मैंने उन्हें भी यह बात कह दी । महाराज लेटे । प्रातःकाल चार बजे महाराज को भूख लग आई थी । उनके बगल के कमरे में एक कूलर के अन्दर बहुत सी मिठाइयाँ रखी हुई थीं । महाराज ने वहाँ जाकर सारी मिठाइयाँ खा लीं ।

प्रतिदिन की भाँति उस दिन भी प्रातःकाल स्वामी प्रेमानन्द महाराज को प्रणाम करने आये । उनके कुशल आदि पूछने पर महाराज बच्चों के समान शिकायत के स्वर में बोले– "अरे ! मैं भूखा हूँ । उन लोगों ने मुझे अब तक कुछ खाने को नहीं दिया ।" ऐसा सुनते ही मैं उनके लिए कुछ लाने को कूलर की ओर दौड़ पड़ा, परन्तु वह बिल्कुल खाली पड़ा था ।

प्रेमानन्दजी ने पूछा– "क्या हुआ ? कहीं तुमने कूलर को खुला तो नहीं छोड़ दिया था और बिल्ली आकर सब चट कर गई ? तुमसे ऐसी लापरवाही क्यों हुई ?"

मैंने कहा– "मेरी तो समझ में नहीं आता। अभी-अभी जब मैंने कूलर देखा तो वह बन्द था, तो भी चीजें गायब हो गईं। मेरी समझ में नहीं आता कि बिल्ली अन्दर कैसे घुसी होगी।"

तब महाराज मुस्कुराते हुए प्रेमानन्दजी से बोले– "हाँ बाबूराम भाई, एक बड़ी बिल्ली आकर कूलर में घुस गई थी। वह बिल्ली इतनी बड़ी थी कि उसने कूलर को खोल लिया और बन्द भी कर दिया।" और 'बड़ी बिल्ली' कहते हुए उन्होंने अपनी ओर संकेत किया।

× × ×

श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे कि राखाल मेरा पुत्र है––मेरा मानस पुत्र। निम्नलिखित घटना यह प्रदर्शित करती है कि ठाकुर के लीलासंवरण कर लेने के पश्चात् भी उनके बीच यह सम्बन्ध अक्षुण्ण रहा था–– बात १९१८ ई. की है। महाराज कलकत्ते के बागबाजार अंचल में अवस्थित बलराम बोस के भवन में निवास कर रहे थे। उनका सेवक होने के नाते, उन दिनों में भी उनके साथ ही था। उस दिन महाराज ने अपना दोपहर का भोजन समाप्त किया और उसके बाद सामान्यतया वे थोड़ा आराम किया करते थे।

मैं उनके कमरे के बाहर की बेन्च पर बाहर बैठा हुआ था कि उसी समय एक युवती अपने भाई को साथ लिए हुए वहाँ आ पहुँची। उसके महाराज का दर्शन करने की अनुमति माँगने पर मैंने बताया कि यह महाराज के आराम करने का समय है, अतः इस समय उन्हें मिलने में असुविधा होगी। इस पर वह लड़की बहुत दुःख प्रकट करने लगी, अतः मैंने महाराज के पास जाकर उसकी

बात कह सुनाई । महाराज मधुर स्वर मे बोले--"देखो ! अपनी इस वृद्धावस्था में मैं भोजन के बाद तुरन्त बातें नहीं कर सकता । उसे लगभग दो घण्टे बाद आने को कहना ।"

जब मैंने महाराज का यह सन्देश उस लड़की को दिया तो वह रोने लगी । वह बोली कि स्वामी सारदानन्द के निर्देश पर ही वह यहाँ आई है । फिर दुःखी स्वर में उसने कहा--"ठीक है ! मैं सिर्फ उन्हें प्रणाम करके ही चली जाऊँगी । कृपया इतना तो कर दीजिये ।" उसकी दुरवस्था पर व्यथित होकर मैं पुनः महाराज के पास गया । मैंने कहा--"शरत् * महाराज ने उसे भेजा है । वह सिर्फ आपको प्रणाम करके चली जाएगी ।" जब मैंने स्वामी सरदानन्द का नाम लिया तो महाराज को कोई आपत्ति न रही ।

लड़की अत्यन्त आनन्दपूर्वक महाराज का दर्शन करने को गई और उन्हें प्रणाम किया । महाराज जब उससे वार्तालाप करने लगे तो मैं बरामदे में चला आया । मुझे बाद में पता चला कि प्रणाम करते समय वह लड़की भावावेग में सिसकने लगी थी और महाराज एक दिव्य भाव में जाकर नीरव हो गये थे । थोड़ी देर बाद स्वाभाविक अवस्था में आकर उन्होंने उस लड़की की ओर दृष्टिपात किया और बोले--"उठो बेटी ! बोलो क्या बात है ।" परन्तु लड़की रोती ही रही । वह खड़ी तो हुई परन्तु उसके मुख से शब्द न निकले । फिर कमरे

---

* उनके गुरूभाइयों में अन्यतम स्वामी सारदानन्द, जो रामकृष्ण संघ में शरत् महाराज के नाम से भी परिचित हैं ।

में ही टँगे श्रीरामकृष्णदेव के एक चित्र की ओर संकेत करते हुए वह बोली—"उन्होंने ही मुझे आपके पास आने का आदेश दिया है।" महाराज ने पुनः उसे सब कुछ विस्तारपूर्वक बताने को कहा।

तब उसने अपनी रामकहानी बतानी शुरू की। चौदह वर्ष की आयु में ही उसका विवाह हो चुका था। विवाह के दो सप्ताह बाद उसके पति का देहावसान हो गया। जिसके फलस्वरूप उसका भविष्य अन्धकारमय हो गया था। निराशा में वह फूट-फूटकर रोया करती और भगवान से निरन्तर प्रार्थना किया करती—"हे प्रभो! मेरा क्या होगा? मैं अकेली और असहाय हूँ, क्या करूँ? मुझे रास्ता दिखाओ!" लगभग एक वर्ष बाद श्रीरामकृष्ण उसके समक्ष स्वप्न में प्रकट हुए और बोले—"रोओ मत! मेरा पुत्र राखाल बागबाजार में में रहता है। उसके पास जा, वह तेरी सहायता करेगा।" उसे श्रीरामकृष्ण अथवा राखाल महाराज के बारे में कुछ भी ज्ञात न था। अब वह सोचने लगी कि बागबाजार को कैसे जाना हो, क्योंकि उसका मकान वहाँ से बहुत दूर कलकत्ते के दूसरे छोर पर अवस्थित था। उसने अपनी ससुराल में किसी से भी इस स्वप्न का जिक्र नहीं किया। उसकी माँ कलकत्ते के ही टालीगंज मुहल्ले में निवास करती थी। वह अपने ससुराल की अनुमति लेकर माँ से मिलने को गई और उन्हें सब कुछ कह सुनाया। उसकी माताजी श्रीरामकृष्णदेव के बारे में जानती थीं। माँ से उनके बारे में सुनने के बाद वह लड़की अपने भाई के साथ बागबाजार को गई। वहाँ उसने पूछताछ की कि क्या यहाँ आसपास कोई साधु-

संन्यासी निवास करते हैं ? लोगों ने उसे बताया कि वहाँ रामकृष्ण संघ के प्रकाशन कार्यालय 'उद्बोधन' में कुछ संन्यासी रहा करते हैं। उस समय वहाँ स्वामी सारदानन्द तथा संघ के कुछ अन्य संन्यासी उपस्थित थे। उसने उनको अपने अद्भुत् दर्शन की बात कही और शरत् महाराज ने उन्हें महाराज के दर्शनार्थ बलराम-मंदिर में भेजा था।

दो घण्टे से भी अधिक समय तक वह लड़की महाराज के सान्निध्य में रही। तदुपरान्त उन्होंने मुझे बुलाया। कमरे में प्रवेश करते ही मैं समझ गया कि लड़की को दीक्षा मिल चुकी है। महाराज ने मुझे उसके तथा उसके भाई के लिये कुछ खाद्य-सामग्री लाने का आदेश दिया। इस घटना के पश्चात् वह लड़की प्रायः ही महाराज से मिलने को आया करती थी। १९२२ ई. में महाराज की महासमाधि के पश्चात् भी मैंने उसे दो-एक बार मठ में देखा था।

१९४२ ई. में गैरिक वस्त्र पहने एक संन्यासिनी बेलुड़ मठ में मुझसे मिलने को आई। उसके संग एक युवा शिष्या भी थी। प्रारम्भ में मैं उसको पहचान न सका, परन्तु जब उसने चौबीस वर्ष पूर्व बलराम-मन्दिर में महाराज के साथ हुई अपनी मुलाकात की याद दिलायी तो तुरन्त ही सारी घटना मेरे मानसपटल पर सजीव हो उठी। मैंने पूछा कि तुम इतने दिनों तक कहाँ रही। उसने बताया कि महाराज के निर्देशानुसार वाराणसी, वृन्दावन, हरद्वार आदि तीर्थों में साधना करते हुए उसने अपने दिन बिताये थे और अब वह कलकत्ते में कालीघाट के निकट अपनी कुछ शिष्याओं के साथ निवास कर रही

है। उसके चेहरे से स्पष्ट प्रतीत होता था कि उसे कुछ आध्यात्मिक उपलब्धियाँ भी हो चुकी हैं।

लगभग तीन वर्ष बाद, संन्यासिनी के साथ आने वाली वही युवा शिष्या मुझसे मिलने को बेलुड़ मठ में आयी। । मैंने जब उससे उसकी गुरु उन संन्यासिनी का सम्वाद पूछा तो उसने बताया कि दो वर्ष पूर्व उनका देहान्त हो चुका है। जब वे अपने अन्तिम दिनों में बीमार थी, तो एक दिन प्रातःकाल उन्होंने पंजिका मँगाकर निकट भविष्य का एक अच्छा दिन चुना। उन दिनों उन्होंने अपनी शिष्याओं को प्रार्थना व ध्यान में अपना समय बिताने का आदेश दिया और श्रीराम-कृष्ण, श्री माँ और महाराज के नाम का उच्चारण करते हुए पूर्ण चेतना की अवस्था में देहत्याग कर दिया।

× × ×

मठ भवन के ऊपर पूर्व की ओर के बरामदे में महाराज एक आरामकुर्सी पर बैठे हैं और उनके समीप सात-आठ साधु-ब्रह्मचारी भी बैठे हैं। बातचीत चल रही है। उपस्थित संन्यासियों में से एक जन तपस्या के लिये निर्जन में जाकर सिर्फ ध्यान - धारणा में समय बिताना चाहते हैं। उनकी अनुमति के लिये प्रार्थना करने पर महाराज बोले—"ऐसा कर सको तो अच्छा है, पर भला कितने लोग कर सकते हैं? यदि इच्छा बड़ी तीव्र हो तो दो-चार-छह महीने इस प्रकार बिताया जा सकता है। परन्तु तुम्हारा शरीर-मन तपस्या के उपयुक्त नहीं है तुम्हें कर्म और उपासना का साथ-साथ अभ्यास करना होगा।"

हम लोगों ने महाराज से ठाकुर के बारे में कुछ बताने का अनुरोध किया। वे थोड़ी देर चुप रहने के

बाद बोले--"वे पकड़ से, स्पर्श से परे हैं;" कहते कहते वे अन्तर्मुखी हो गये और कुछ समय बाद पुनः बोले-- "मैं तुम लोगों के लिये प्रार्थना करता हूँ, तुम लोग भी उनसे प्रार्थना करना, वे स्वयं ही समझा देंगे।"

१९१८ ई. बलराम मन्दिर में मठ के एक संन्यासी ने आकर महाराज को साष्टांग प्रणाम किया। महाराज ने उनका तथा मठ का कुशल-मंगल पूछा फिर उनकी वेशभूषा की ओर दृष्टिपात करते हुए बोले--"देख, थोड़ा दबा-दबू कर रख! ठाकुर युगावतार होकर आये हैं, उनके नाम पर न जाने कितने ही मठ-मन्दिर आदि खड़े होंगे, इतनी धन सम्पत्ति आएगी जिसकी सीमा नहीं। यदि तुम लोगों में त्याग-संयम न रहा, तो असली चीज को ही खो बैठोगे।"

भुवनेश्वर के मठ में सीढ़ी के निकट खड़े रामलाल दादा ने थोड़ा खेद व्यक्त करते हुए महाराज से कहा- "आप लोग जब ठाकुर के सान्निध्य में थे, तो आप लोगों ने कितना साधन-भजन किया था और उसके पश्चात् भी कितनी भीषण तपस्या की थी। परन्तु आजकल के लड़कों में तो वैसा कुछ देखने को नहीं मिलता।"

महाराज ने उत्तर में कहा--"देखो रामलाल दादा! तुम नहीं जानते कि ये लड़के अच्छा होने के लिये कितना प्रयास कर रहे हैं। भीतर से जो जितना ही सत् होने का प्रयास करता है, साधना करता है, उसे वाह्य जगत् से उतने ही धक्के मिलते हैं, इतना ही नहीं सूक्ष्म जगत् से भी असद्वृत्ति सम्पन्न सूक्ष्म जीवात्माएँ उसके मन में प्रवेश करती हैं। दादा, तुम नहीं जान सकते कि इनमें से कौन क्या कर रहा है और क्या नहीं कर रहा है।

ये लोग यदि ठाकुर का नाम लेकर पड़े रह सकें, तो गुरु कृपा से सब कुछ हो जायगा।"

महाराज भुवनेश्वर मठ के हाल में विराजमान हैं, रामलाल दादा भी उपस्थित हैं। महाराज एक साधु से कह रहे हैं—"देखो, गुरुकृपा से तुम लोगों का सब कुछ हो जायगा। परन्तु यदि इसी जीवन में प्रत्यक्ष रूप से (जीवन्मुक्ति का) आनन्द पाना चाहते हो, तो दीन-हीन, कंगाल और अकिंचन होकर उनसे प्रार्थना करनी होगी।"

× × ×

स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने १० अप्रैल, १९२२ ई. को लीला संवरण किया था। मार्च में वे बलराम बाबू के भवन में ठहरने को आये, उस समय उन्हें अपने आसन्न अवसान का पूर्वाभास हो चुका था।..... मठ से कलकत्ता जाने के पूर्व उन्होंने स्वामी विवेकानन्द द्वारा बनवायी हुई मन्दिर की योजना के कागजात मँगवाये और श्रीरामकृष्ण के अन्य शिष्यों की उपस्थिति में कहा कि स्वामीजी इस मन्दिर का निर्माण करवाना चाहते थे और देखना होगा कि उनकी इच्छा अपूर्ण न रह जाय। बाद में उन लोगों की समझ में आया कि एकमात्र यही कार्य वे अपने जीवनकाल में पूरा न कर सके थे और इसकी जिम्मेवारी वे संघ को सौंप गये थे।

तिरोभाव के कुछ ही दिनों पूर्व 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' के लेखक (श्री 'म' महाराज से मिलने) बलराम मन्दिर के उस छोटे से कमरे मे आये। मास्टर महाशय (श्री म) ने उनसे पूछा—"तबियत कैसी है? क्या थोड़ा अच्छा लग रहा है?"

महाराज ने इसका कोई उत्तर न दिया और बोले––"मास्टर महाशय ! ठाकुर इस बार आकर जीवलोक तथा शिवलोक के बीच एक सेतु निर्माण कर गये गये हैं। अब साधारण जीवों के लिये भगवान को पाना कितना सहज हो गया है।" कुछ क्षणों बाद उन्होंने मास्टर महाशय से पुनः कहा–"जब युगावतार आते हैं तो पृथ्वी पर प्रबल आध्यात्मिक शक्ति का विकास होता है, जिसके फलस्वरूप थोड़े प्रयास से ही मनुष्य में चैतन्य का उदय हो जाता है।"

महाराज हम लोगों से कहा करते थे–"इस अवसर को मत छोड़ो, मेहनत करो ! एक बार मौका चूक जाने पर फिर पछताओगे। श्रीरामकृष्ण सत्य के सार स्वरूप थे। उनके आदर्श के अनुसार अपना जीवन गढ़ डालो, तुममें से जो लोग चिकित्सालय में कार्य कर रहे हैं, वे भी शुद्ध और निःस्वार्थ कर्म के द्वारा लक्ष्य तक पहुँचेंगे, सत्य की अनुभूति करेंगे।"

अपनी इस अन्तिम अस्वस्थता के पूर्व महाराज को एक विचित्र अनुभूति हुई थी। एक बार वे आधी रात को उठकर अचानक अपने बिस्तर पर बैठ गये। मैंने देखा कि वे अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक बैटे हुए हैं। मैंने जब पूछा कि आप सोये क्यों नहीं तो कोई उत्तर न मिला। मेरे दुबारा पूछने पर भी वे मौन ही रहे। सुबह वे खूब तड़के उठे और बिस्तर से उतरकर अविचल खड़े हो गये। तब उन्होंने मुझे बताया––"पिछली रात को ठाकुर आये थे, परन्तु उन्होंने मुझसे कुछ नहीं कहा। ऐसा तो वे कभी करते नहीं।" पहले जब कभी भी उन्हें श्रीरामकृष्णदेव का दर्शन मिलता था तो वे उनके साथ वार्तालाप किया करते थे, परन्तु इस बार वे बिना कुछ कहे ही अन्तर्धान हो गये थे और इस कारण महाराज चिन्तित थे। वे मुझसे

पुनः कहने लगे—"ठीक है, जैसा होने को है, होगा। मैं जैसा हूँ, ठीक हूँ। मेरी अपनी कोई भी इच्छा नहीं है। मेरे मन में कुछ भी भोग करने की कामना नहीं है। किसी तरह का तप करने अथवा भगवद्दर्शन तक की इच्छा नहीं है। मेरी एकमात्र इच्छा है कि उनकी इच्छा पूर्ण हो। मैंने उनकी शरण ली है।" इस दर्शन के बाद ही वे बीमार पड़े और अट्ठारह दिनों बाद उनका देहावसान हो गया।

स्वामी ब्रह्मानन्दजी आम तौर पर अपने भाव दृढ़ता पूर्वक गोपनीय रखते थे, परन्तु जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने साधुओं, भक्तों के लिये अपने गहन प्रेम का द्वार मानो पूर्णतया उन्मुक्त कर दिया था और अत्यन्त हार्दिक स्नेहपूर्वक उन्होंने सब पर आशीर्वादों की वर्षा की थी। उनके श्रीरामकृष्ण के सान्निध्य में आने के पूर्व ही ठाकुर ने उन्हें एक दर्शन में एक कमल के बीच श्रीकृष्ण के संगी के रूप में नृत्य करते हुए देखा था और भविष्यवाणी की थी कि जब उसे अपना वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जायगा तो वह इस जगत् से विदा हो जाएगा। जीवन के अन्तिम दिनों में स्वामी ब्रह्मानन्द को भी वही दर्शन मिला था, और जब उन्होंने इसका उल्लेख किया तो उनके गुरुभाईगण समझ गये कि अब वे देह त्याग करने वाले हैं। उस समय उन्हें और भी अनेक दर्शन हुए थे और महाराज ने अपना स्वाभाविक संयम त्यागकर, हृदयस्पर्शी भाषा में उनका वर्णन किया था।

स्वामी सारदानन्दजी ने एक बार वार्तालाप के दौरान कहा था—"महाराज और ठाकुर के बीच कोई भेद नहीं है। महाराज हमारे परिचालक थे; परन्तु वे हमें अपने अध्यक्ष पद की हैसियत से नहीं, वरन् प्रेम की वशीकरण शक्ति से चलाया करते थे।

शान्ति

स्वामी विवेकानन्द

(Peace' नामक कविता का स्वामी आत्मानन्द कृत अनुवाद)

आ रही, देखो उसे, दल-बल सहित,
शक्ति होकर भी नहीं जो शक्ति है,
तमस में जो है निहित आलोक, औ'
चौंधियाती रोशनी में छाँह है ।।

हर्ष है वह अप्रकट, दुःख गहनतर,
हो सका जिसका न अनुभव हृदय में,
बिन बिताया अमर जीवन, मृत्यु नित,
कालिमा जिसकी न अब तक लग सकी ।।

वह न है सुख और है न विमर्ष ही,
किन्तु उनके मध्य में है वर्तमान;
निशि नहीं वह और है न प्रभात ही,
किन्तु वह है लालिमा संयोग की
सघनतमपूरित निशा मिलती जहाँ
भुवन-भास्कर की प्रसरती किरण से ।।

है मधुर विश्राम वह संगीत में,
शुभ कला के बीच निहित विराम है,
वाणियों में मौन, औ' हृदि-शाति वह
वासना उत्ताल द्वय के मध्य में ।।

है अदृश सौन्दर्य वह, औ' प्रेम है
जो अपेक्षा अन्य की करता नहीं,
गान है जो बिना गाये गूँजता,
ज्ञान है जिसको न कोई पा सका ।।

मरण है वह जन्म द्वय के बीच में,
मध्य द्वय-तूफान के नीरव पवन,
शून्य जिससे सृष्टि है उत्थित हुई,
और जिसमें लीन वह हो जायगी ।।

अश्रुकण हैं लीन होते उसी में
अधर पर मुसकान लाने के लिये,
लक्ष्य जीवन का वही बस एक ही,
शान्ति उसका एकमात्र निकेत है ।।

अश्विनी कुमार दत्त

स्वामी विदेहात्मानन्द

बाबू अश्विनी कुमार दत्त (१८५६-१९२३ ई.) एक प्रसिद्ध देशभक्त और स्वाधीनता आन्दोलन के एक प्रमुख नेता थे। राजनीति में भाग लेते हुए भी वे एक धार्मिक सात्त्विक जीवन बिताया करते थे। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में बंग-भंग एवं स्वदेशी आंदोलन में प्रमुख भूमिका निभाने के बाद से उनकी गणना कांग्रेस के गरम दल के नेताओं में होने लगी थी। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में अश्विनीबाबू के योगदान एवं स्थान के बारे में काफी कम साहित्य उपलब्ध है, अतः यहाँ इस विषय पर हम विविध ग्रन्थों से कुछ सामग्री उद्धृत करेंगे।

२८ दिसम्बर, १८८५ ई. को नवप्रतिष्ठित कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन हुआ, परन्तु उसमें प्रस्तावित माँगों का भारत की राजनीतिक स्वाधीनता से कोई सरोकार न था। प्रारम्भ के प्रायः बीस वर्षों तक कांग्रेस आवेदन-निवेदन की नीति का अवलम्बन कर ब्रिटिश राज से मात्र कुछ सुविधाओं की माँग करती रही। बाद में चलकर लोकमान्य तिलक तथा अश्विनी कुमार के प्रयासों से ही कांग्रेस में गरम दल की सृष्टि हुई और स्वराज्य का नारा बुलन्द किया जाने लगा। इस दृष्टि से अश्विनी बाबू अपने समय से काफी आगे थे। १८९७ ई. में उन्होंने अमरावती में आयोजित कांग्रेस के खुले अधिवेशन में उसे तीन दिन का तमाशा कहकर उसका उपहास किया था। उसी वर्ष उन्होंने ब्रिटिश पार्ल्यमिण्ट को चालीस हजार हस्ताक्षरों से युक्त एक पत्र भेजकर भारत में गणतान्त्रिक शासन व्यवस्था लागू करन

की माँग की थी। इस आवेदन-पत्र पर हस्ताक्षर करने वालों में किसान, जुलाहे, बढ़ई, मोची, दुकान-दार आदि सभी श्रेणी के लोग थे।

प्रसिद्ध इतिहासकार डा. रमेशचन्द्र मजुमदार, जो अपनी तरुणावस्था में बारीसाल (अब बंगलादेश) के अश्विनीबाबू के ही आवासीय विद्यालय के छात्र थे, लिखते हैं—"यह कहना अत्युक्ति न होगा कि उस काल के राजनीतिक नेताओं में उनके जैसा आदर्श चरित्र, साधुतापूर्ण ऋषितुल्य नेता एकमात्र अरविन्द घोष को छोड़कर दूसरा कोई भी न था। सम्पूर्ण बारीसाल जिले में आचाण्डाल जनता उन्हें देवता के समान पूजती थी। पेड़ों में नए फल लगने या खेतों में नई सब्जियाँ उगने पर, लोग लाकर पहले अश्विनीबाबू के चरणों में निवेदित किया करते थे—यह सिर्फ किम्वदन्ती मात्र नहीं है, वरन् वर्तमान लेखक ने अपनी आँखों से इसे देखा है। सत्तर वर्षों के बाद आज भी उनकी सौम्य मूर्ति लेखक के मानस पटल पर देदीप्यमान है।"*

लोकमान्य तिलक ने लोकजागृति के निमित्त १८९६ ई. से महाराष्ट्र में शिवाजी उत्सव का श्रीगणेश किया। तदुपरान्त वह प्रतिवर्ष अत्यन्त धूमधाम के साथ मनाया जाने लगा। १९०२ ई. से यह उत्सव बंगाल के कलकत्ता, बारीसाल आदि नगरों में भी मनाया जाने लगा। १९०५ ई. में इस उत्सव ने बंगभंग आन्दोलन के साथ मिल विपुल उन्माद व उत्तेजना की सृष्टि की थी। इस अवसर पर व्याख्यान देते हुए अश्विनीबाबू

*बांग्ला देशेर इतिहास (बंगला), खण्ड ४, पृ. ६१

ने कहा—"बारीसाल में इतना विराट् जनसमागम इसके पूर्व कभी किसी ने भी नहीं देखा और इस उत्सव ने समग्र देश में एक नवीन राष्ट्रीय चेतना का संचार किया है ।

१९ जुलाई १९०५ ई. को ब्रिटिश सरकार ने बंगाल के विभाजन की घोषणा कर दी । इसके विरोध में सर्वाधिक महत्वपूर्ण सभा सर्वप्रथम बारीसाल में ही हुई थी । ७ अगस्त को कलकत्ते के टाउनहाल में सबसे बड़ी सभा होने के पूर्व ही २६ जुलाई को बारीसाल के ब्रजमोहन कालेज के प्रांगण में एक विशाल सभा आयोजित हुई । इस सभा में नगर के प्रमुख अधिवक्ता श्रीयुत् दीनबंधु सेन की अध्यक्षता में अश्विनीबाबू का व्याख्यान हुआ । डा. रमेशचन्द्र मजुमदार जो एक विद्यार्थी के रूप में वहाँ उपस्थित थे, लिखते हैं—"उक्त सभा के उद्दीपनामय व्याख्यान, श्रोताओं का अपूर्व उन्माद, और नंगे पाँव हाथ में काले झण्डे लिये जुलूस निकालकर नगर के रास्तों पर परिभ्रमण करना आदि स्मृतियाँ मेरे मन में अब भी बनी हुई हैं ।" आगे वे लिखते हैं—"इस प्रकार कलकत्ते में जब सिर्फ बातें ही चल रही थीं, बारीसाल में इतिहास का निर्माण हो रहा था । इससे नगर (कलकत्ता) के नेताओं को भी अपना अगला कदम स्थिर करने में सहायता मिली थी ।"

बंगभंग के बाद जब स्वदेशी आन्दोलन का स्रोत पूर्ण वेग से प्रवाहित होने लगा, तो १९०६ ई. में कलकत्ते में आयोजित शिवाजी उत्सव ने अभूतपूर्व सफलता हासिल की । पाँच दिनों तक चलने वाले इस समारोह में तिलक, खापर्डे, लाजपत राय व मुंजे आदि

राष्ट्रीय स्तर के नेता उपस्थित थे। इस अवसर पर स्वदेशी वस्तुओं की एक प्रदर्शनी भी लगाई गई थी। ५ जून को अश्विनीबाबू की अध्यक्षता में जो सभा हुई उसमें भाग लेने को इतनी संख्या में लोग उपस्थित हुए थे कि बहुत से लोगों को स्थानाभाव के कारण निराश होकर लौट जाना पड़ा। उसी वर्ष अकाल-पीड़ितों में राहत-सेवा करने के लिए उन्होंने अपने विद्यार्थियों को साथ लेकर १५५ राहत केन्द्र खोले थे। भगिनी निवेदिता ने इस अंचल का दौरा करने के पश्चात् उनके कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए एक लेख लिखा। १९०७ ई. के दिसम्बर में सूरत कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था, जिसमें सभापति पद के निर्वाचन के सिलसिले में मतभेद होने पर लोकमान्य तिलक ने गरम दल की ओर से अश्विनीबाबू का नाम प्रस्तावित किया, परन्तु विविध कारणों से वे स्वयं ही राजी नहीं हुए।

१४ दिसम्बर, १९०८ ई. को सरकार ने अश्विनी-बाबू समेत ९ नेताओं को कैद कर लिया था और बिना मुकदमा चलाये लगभग सवा साल लखनऊ जेल में रखने के बाद १९१० ई. की ८ फरवरी को उन्हें रिहा किया। जून १९०९ ई. में जबकि वे जेल में थे, उनके नगर में आयोजित थालाकाठी कान्फ्रेंस में श्री अरविन्द घोष ने कहा था—"बारीसाल की जनता का स्वागत पाना मेरे लिए विशेष आनन्द का विषय है। जब कभी भी मैं इस जनपद में आता हूँ, बेकरगंज की इस धूलि में आता हूँ, जो कि देश के इतिहास में सदा के लिए पूत और स्मरणीय बन गई है, तो मैं किसी साधारण स्थान पर नहीं आता। मैं जब बारीसाल

आता हूँ तो मानों माँ के विशिष्ट मन्दिर में आता हूँ, मैं राष्ट्रीय भावना के पुनीत पीठस्थान में आता हूँ और अश्विनी कुमार दत्त की जन्म भूमि एवं कार्यक्षेत्र में आता हूँ ।"

१९१७ ई. में बारीसाल में आकर देशबन्धु चित्त-रंजनदास ने कहा था—"यहीं पर हमारे गुरु एवं मित्र अश्विनी कुमार ने धर्म के साथ राष्ट्रसेवा का भाव जगाने के लिये जीवन यापन किया था, अतः यह स्थान मेरे लिये तीर्थ के समान है । स्वामी विवेकानन्द के व्याख्यानों में जिसका सूत्रपात हुआ, उसका क्रियान्वयन अश्विनी कुमार के प्रयासों से हुआ ।" १९२० ई. में लोकमान्य तिलक के देहावसान पर कलकत्ते में आयोजित विराट् शोकसभा की अध्यक्षता का प्रस्ताव भी उन्होंने ठुकरा दिया था । सत्ता के द्वन्द से अलग रहकर वे समाज सेवा, शिक्षण आदि रचनात्मक कार्यों में ही निरत रहते थे । नींव का पत्थर भवन का सारा भार वहन करते हुए भी स्वयं अदृश्य रहता है । वे स्वाधीनता आन्दोलन के नींव के पत्थर थे और इसके लिये चारित्रिक और नैतिक बल उन्हें धर्म से मिला करता था ।

उनके परलोक-गमन के पश्चात् महात्मा गांधी जब दुबारा बारीसाल आये तो उन्होंने १५ जून, १९२५ ई. के दिन इन पूतात्मा के मकान में बैठकर अपनी श्रद्धां-जलि अर्पित करते हुए लिखा था—"इस घर में आने पर मेरे मन में जो आनन्द हुआ था, वह दिवंगत देशभक्त अश्विनीबाबू की याद आने से निरानन्द में परिणत हो गया । यहाँ पर अपने पूरे निवासकाल में मुझे उनकी

याद सताती रही है। मैं यह कल्पना ही नहीं कर पाता कि अब वे नहीं रहे।"

× × ×

अश्विनी बाबू का जन्म २५ जनवरी, १८५६ ई. को पूर्व बंगाल के बारीसाल जिले में हुआ। उनके पिता उस जिले के पटुआखाली महकमे के मुन्सिफ तथा डिप्टी कलेक्टर थे। अपनी पढ़ाई की शुरुआत उन्होंने गाँव की ही पाठशाला में की, किन्तु पिता के स्थानान्तरण के साथ ही साथ उन्हें भी स्कूल बदलना पड़ता था। १८७० ई. में चौदह वर्ष की आयु में उन्होंने रंगपुर से प्रवेशिका परीक्षा पास की। तदुपरान्त वे पिता के निर्देश पर आगे की पढ़ाई के लिए कलकत्ता आकर प्रेसीडेन्सी कालेज में भर्ती हुए। यहीं से उनके जीवन का एक नवीन अध्याय शुरू हुआ। इन्हीं दिनों वे ब्राह्मसमाज के प्रसिद्ध नेता केशवचन्द्र सेन के प्रभाव में आए। एफ. ए. की परीक्षा उन्होंने प्रथम श्रेणी में पास की, परन्तु बी. ए. पढ़ते समय यह बात उनके मन को कचोटने लगी कि प्रवेशिका परीक्षा के समय उनकी आयु कम होने के कारण उसे चौदह की जगह सोलह लिखना पड़ा था, अतः वे पढ़ाई छोड़कर पिता के पास जैसोर चले गये। पिता इस पर नाराज नहीं हुए, बल्कि अपने साथ रखकर उनके साथ वेदान्त चर्चा करने लगे। अश्विनीकुमार वहाँ पर हिन्दू-धर्म की अवनति देखकर अत्यन्त व्यथित हुए तथा एक धर्मसभा की स्थापना कर वहाँ नियमित रूप से व्याख्यान देना प्रारम्भ किया।

कुछ काल बाद वे प्लीडरशिप करने को इलाहाबाद गये और वहाँ वकालात भी की। फिर माँ के अनुरोध पर वे कृष्णनगर को लौट आये और पुन: अध्ययन करने लगे। इस प्रकार उन्होंने १८७८ ई. में बी. ए., अगले वर्ष अंग्रेजी साहित्य में एम. ए. तथा १८८० ई. में बी. एल. की परीक्षा पास की। तदुपरान्त वे बारीसाल में ही प्लीडर हो गये। इस कार्य में उन्हें सफलता एवं प्रसिद्धि तो मिली, पर उनके चित्त को सन्तोष नहीं मिला।

१८८४ ई. में उनके पिता ने अपने ही नाम पर ब्रजमोहन शिक्षण संस्थान की स्थापना की थी। अश्विनीबाबू ने वकालात छोड़कर अब शिक्षण के कार्य में मनोनियोग किया और उनके प्रयासों से विद्यालय १८९८-९९ ई. में एक कालेज में परिणत हो गया। उन्होंने १७ वर्षों तक उस संस्था में बिना वेतन लिये अंग्रेजी के प्राध्यापक का कार्य किया और आजीवन धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक व सामाजिक जागरण के कार्य में लगे रहे। ब्रजमोहन स्कूल एवं कालेज की सुख्याति उन दिनों चारों ओर फैल गई थी। कलकत्ता विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार रे. कालीचरण बनर्जी वहाँ के छात्रों की परीक्षा के समय 'गार्ड' (निरीक्षकों) की व्यवस्था का अभाव देखकर विस्मित रह गये थे। पूछने पर पता चला कि ब्रजमोहन विद्यालय के छात्र कभी नकल नहीं करते। प्रो. कनिंघम ने कहा था—"मेरी समझ में नहीं आता कि बारीसाल के रहते, भारतीय युवक कैम्ब्रिज क्यों जाया करते हैं।"

इन शिक्षण संस्थानों की सफलता का मूल था—अश्विनीबाबू का साधुजीवन एवं उनकी अदम्य क्रिया-

शीलना। वे छात्रों को मात्र शुष्क उपदेश ही नहीं देते थे अपितु उन लोगों के साथ घनिष्ठतापूर्ण सम्बन्ध रखकर अपने आदर्शों को जीवन में रूपायित कर, एक प्रेरणा-स्तम्भ के रूप में छात्रों का चरित्र-गठन किया करते थे।

× × ×

'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय 'परिशिष्ट-घ' के लेखक हैं, बाबू अश्विनी कुमार दत्त। इस लेख में उन्होंने श्रीरामकृष्ण के बारे में अपने संस्मरण लिखे हैं तथा यह भी बताया है कि किस प्रकार जब वे अन्तिम बार २३ मई, १८८५ ई. को श्रीरामकृष्ण से मिलने दक्षिणेश्वर गये तो उस दिन उन्होंने उनका नरेन्द्रनाथ (बाद में स्वामी विवेकानन्द) के साथ परिचय कराया था। यहाँ पर हम उस अंश को उन्हीं के शब्दों में उद्धृत करते हैं--

"उन्होंने कहा—क्या तुम नरेन्द्र को पहचानते हो?

मैं—जी नहीं।

श्रीरामकृष्ण—मेरी बड़ी इच्छा है कि उसके साथ तुम्हारी जान-पहचान हो जाय। वह बी. ए. पास कर चुका है, विवाह नहीं किया।

मैं--जी, मैं उनसे परिचय अवश्य करूँगा।

श्रीरामकृष्ण--आज रामदत्त के यहाँ कीर्तन होगा। वहाँ मुलाकात हो जाएगी। शाम को वहाँ जाना।

मैं—जी हाँ, जाऊँगा।

श्रीरामकृष्ण—हाँ जाना, जरूर जाना।

मैं--आपका आदेश मिला और मैं न जाऊँ--अवश्य जाऊँगा।...

उस दिन शाम को रामबाबू के यहाँ गया। नरेन्द्र को देखा। श्रीरामकृष्ण एक कमरे में तकिये के सहारे, बैठे हुए थे, उनके दाहिनी ओर नरेन्द्र थे। मैं सामने था। उन्होंने नरेन्द्र से मेरे साथ बातचीत करने के लिये कहा।

नरेन्द्र ने कहा—आज मेरे सिर में बड़ा दर्द हो रहा है। बोलने की इच्छा नहीं होती।

मैं—रहने दीजिये, किसी दूसरे दिन बातचीत होगी।

उसके बाद उनसे बातचीत हुई थी, अल्मोड़े में, शायद १८९८ ई. के मई या जून के महीने में। श्रीरामकृष्ण की इच्छा पूरी तो होने की ही थी, इसीलिए बारह साल बाद वह इच्छा पूरी हुई।"

× × ×

१८९८ ई. की मई या जून में अश्विनीबाबू अल्मोड़ा में आकर ठहरे हुए थे। एक दिन उनके रसोइये ने बातचीत के दौरान बताया कि वहाँ एक अद्भुत बंगाली साधु आये हुए हैं, जो अंग्रेजी बोलते हैं, घुड़सवारी करते हैं और दिखने में किसी राजा-महाराजा जैसे प्रतीत होते हैं। समाचार-पत्रों से उन्हें मालूम हुआ था कि स्वामी विवेकानन्द उस समय अल्मोड़ा में ही है, अतः उन्हें सब समझते देर न लगी और वे योद्धा संन्यासी से मिलने को निकल पड़े। स्वामी विवेकानन्द के बारे में पूछताछ करने पर कोई उन्हे कुछ भी पता न दे सका। फिर जब उन्होंने अपने निकट से होकर गुजरते एक राहगीर से 'बंगाली साधु' के

बारे में पूछा तो उत्तर मिला—"कहीं आपका तात्पर्य घुड़सवार साधु से तो नहीं है? वो देखिए, वे घोड़े पर चले आ रहे हैं। उधर के मकान में रहते हैं।" अश्विनीबाबू ने दूर से ही देखा कि गैरिकधारी घुड़सवार संन्यासी ज्योंही बंगले के मुख्य द्वार तक पहुँचे, एक अंग्रेज सज्जन बाहर आये और घोड़े को पकड़कर अन्दर ले गये। तब स्वामीजी घोड़े से उतरे।

थोड़ी देर बाद ही अश्विनीबाबू भी बंगले के द्वार पर पहुँचे और पूछने लगे—"यहाँ पर नरेन दत्त मिलेंगे क्या?" एक युवा संन्यासी ने उत्तर दिया—"नहीं जी, यहाँ नरेन दत्त नाम के कोई नहीं हैं, वे तो कभी के मर चुके। यहाँ तो स्वामी विवेकानन्द निवास करते हैं।" अश्विनीबाबू ने कहा कि उन्हें स्वामी विवेकानन्द की आवश्यकता नहीं, वे तो परमहंसदेव के नरेन से मिलना चाहते हैं। वार्तालाप की थोड़ी भनक अन्दर स्वामीजी के कानों तक भी पहुँची। उन्होंने शिष्य को बुलाकर पूछा कि क्या बात है। युवा संन्यासी ने कहा—"एक सज्जन नरेन दत्त—परमहंस के नरेन की बाबत पूछ रहे हैं। मैंने कह दिया कि वे तो काफी दिनों पूर्व दिवंगत हो चुके, पर आप यदि चाहें तो स्वामी विवेकानन्द से मिल सकते हैं।" स्वामीजी चिल्ला उठे—"अरे, यह तुमने क्या कर डाला। उन्हें तुरन्त भीतर लाओ।" अन्दर पहुँचकर अश्विनीबाबू ने देखा कि स्वामीजी आरामकुर्सी पर विराजमान हैं। यह देखकर उनके विस्मय एवं आनन्द की सीमा न रही कि एक अंग्रेज युवक घुटनों के बल बैठकर स्वामीजी के जूते उतार रहा है और एक अन्य अंग्रेज उन्हें पंखा झल रहा है।

गर्व से अश्विनी कुमार की छाती फूल उठी। एक अंग्रेज द्वारा भारतवासी के जूते उतारना, उन दिनों कोई कल्पना तक न कर सकता था। उन्हें देखते ही स्वामीजी ने खड़े होकर उनका स्वागत किया। अश्विनीबाबू कहने लगे--"एक बार ठाकुर ने मुझसे अपने प्रिय नरेन से बातें करने को कहा था, पर उस समय नरेन मेरे साथ ज्यादा बातें न कर सके थे। तब से चौदह वर्ष (?) बाद अब पुनः मुलाकात हो रही है। ठाकुर के शब्द वृथा तो नहीं जा सकते थे।" स्वामीजी ने अपनी पहली भेंट के समय विस्तार से बातें न कर पाने पर खेद व्यक्त किया। इस पर अश्विनीबाबू विस्मित रह गये, क्योंकि उन्हें आशा न थी कि इतने दिनों पूर्व उनके साथ हुए मात्र कुछ मिनटों के वार्तालाप का उन्हें स्मरण होगा।

अश्विनीबाबू द्वारा 'स्वामीजी' कहकर सम्बोधित किये जाने पर उन्होंने बीच में ही टोकते हुए कहा--"यह क्या? मैं तुम्हारे लिए स्वामी कब से हो गया? मैं अब भी वही नरेन हूँ। ठाकुर मुझे जिस नाम से पुकारते थे, वही मेरे लिये अमूल्य धन है। मुझे उसी नाम से पुकारिए।"

अश्विनीबाबू--"आपने सम्पूर्ण पृथ्वी का भ्रमण किया है और लाखों प्राणों में आध्यात्मिकता का संचार किया है। क्या आप मुझे बतायेंगे कि भारत की मुक्ति का क्या उपाय है?"

स्वामीजी--"आपने ठाकुर से जो कुछ सुना है, उसके अतिरिक्त मेरे पास कहने को और कुछ नहीं है।

धर्म ही हमारा सार-सर्वस्व है और सभी तरह के सुधारों का जनसाधारण में ग्राह्य होने के लिये, धर्म के माध्यम से ही आना होगा। इसके विपरीत कुछ करने का प्रयास गंगा को वापस गोमुख की दिशा में ठेलने के समान ही अव्यावहारिक है।"

अश्विनीबाबू––"धर्म से आपका तात्पर्य क्या किसी मतवाद (Creed) विशेष से है?"

स्वामीजी––"ठाकुर ने किसी विशेष मतवाद का प्रचार नहीं किया। उन्होंने वेदान्त को ही सर्वांगीण व समन्वयपूर्ण धर्म बताया है, अतः मैं भी उसी का प्रचार करता हूं। पर मेरी दृष्टि में धर्म का सार है––बल। ऐसा धर्म जो हृदय में बल का संचार नहीं करता वह चाहे उपनिषद् का हो, गीता का हो, या भागवत का, मैं उसे धर्म ही नहीं मानता। शक्ति ही धर्म है और शक्ति से बढ़कर और कुछ नहीं है।"

अश्विनीबाबू––"कृपया बतायें कि मेरे लिये क्या करना उचित होगा?"

स्वामीजी––"सुना है कि आप शैक्षणिक कार्यों में लगे हुए हैं। वही सच्चा कार्य है। आपके भीतर से एक महान् शक्ति क्रियाशील है। ज्ञानदान से बढ़कर और कौन सा कार्य है? परन्तु ध्यान रखिये कि जन-साधारण में मनुष्य निर्माण करने वाली शिक्षा का ही प्रसार हो। इसके बाद चाहिये चरित्र-निर्माण, अपने छात्रों का चरित्र वज्र के समान सबल बनाइए। बंगाली युवजन की अस्थियों से बना वज्र भारतीय दासता की बेड़ियों को चूर चूर कर देगा। यदि आप

मुझे कुछ योग्य लड़के दे सकें तो मैं जगत् को अच्छी तरह झकझोर कर रख दूँगा।

"और जहाँ कहीं भी राधा-कृष्ण के कीर्तन सुनने को मिले, उसे निरुत्साहित कीजिये। पूरा राष्ट्र विनाश के गर्त में चला जा रहा है। संयमहीन लोग ऐसे कीर्तनों में मतवाले हो रहे हैं। थोड़ी सी भी अशुद्धि के रहते इन उच्च आदर्शों की धारणा करना सम्भव नहीं। यह क्या हँसी-खेल है? हम लोग काफी काल से नाचते-गाते रहे हैं, अब थोड़े दिन शान्ति रहे तो भी कोई हर्ज नहीं। इस बीच देश खूब शक्तिशाली बन जाय। और फिर अछूतों, मोचियों, मेहतरों आदि के बीच जाइए और उनसे कहिये, 'तुम लोग राष्ट्र की आत्मा हो। तुममें अनन्त शक्ति विद्यमान है। तुम दुनिया को उलट-पलट सकते हो। खड़े हो जाओ, बन्धनों को तोड़ डालो और सारा जगत् तुम्हें देखकर चमत्कृत रह जायगा। आप जाकर उनके बीच स्कूल खोलिए और सबके गले में यज्ञोपवीत डाल दीजिये।"

स्वामीजी के जलपान का समय हुआ देखकर अश्विनी बाबू विदा लेने को उठे। परन्तु जाने के पूर्व उन्होंने स्वामीजी से पूछा—'जब मद्रास के ब्राह्मणों ने आपको शूद्र तथा वेदप्रचार के लिये अनधिकारी बताया था, उस समय क्या सचमुच ही आपने कहा था कि—मद्रास के ब्राह्मणो! यदि मैं शूद्र हूँ तो तुम शूद्रों के भी शूद्र हो?"

स्वामीजी—"हाँ।"

अश्विनीबाबू—"क्या आपके जैसे धर्माचार्य व संयमी व्यक्ति को ऐसी प्रतिक्रिया व्यक्त करना शोभा देता है ?"

स्वामीजी—"कौन कहता है ? मैंने तो कभी नहीं कहा कि मैंने उचित किया है। उनकी उद्धतता के कारण मैं भी अपना आपा खो बैठा और वे शब्द निकल पड़े। फिर मैं कर ही क्या सकता था ? पर मैंने कभी इसे उचित नहीं कहा।"

इस पर अश्विनीबाबू आनन्दविभोर होकर स्वामीजी को गले से लगाते हुए बोले—"आज आप मेरी दृष्टि में सर्वोच्च हो गये हैं। अब मैं समझ गया कि आप क्यों जगज्जयी हैं और ठाकुर आपको क्यों इतना मानते थे।"

× × ×

अगले साल १८९९ ई. के जाड़ों में रामकृष्ण मठ से स्वामी सारदानन्द जब पूर्व बंगाल और बारीसाल की यात्रा पर गये थे तो वहाँ उनके व्याख्यान सभा के अध्यक्ष के रूप में उनका परिचय देते हुए अश्विनीबाबू ने कहा था—'स्वामी सारदानन्द भगवान रामकृष्ण परमहंसदेव के एक विशिष्ट संन्यासी शिष्य तथा स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई हैं। परमहंसदेव की कृपा से विश्व को हिलाने वाले एक ही विवेकानन्द जन्मे हों, ऐसी बात नहीं, उनकी कृपा से ये सभी एक एक विवेकानन्द हैं। इनमें से प्रत्येक मानो एक एक अग्निगिरि हैं। इन लोगों के प्रत्येक हाव-भाव, चाल-चलन, बातचीत तथा इनके जीवन की प्रत्येक क्रिया से

अग्नि स्फुरित होता है। इन लोगों की उपस्थिति मात्र ही चैतन्यदायिनी है। ये लोग जहाँ कहीं भी निवास करते हैं, जिस भी मार्ग से निकल जाते हैं, वहाँ का अमंगल भस्मसात् हो जाता है। जो कोई इनके संसर्ग में आता है वह अपने जीवन में इनकी उष्णता महसूस करता है। इनके प्रभाव से बाघ एवं भैंस एक ही घाट से जल पीते हैं। मैंने अल्मोड़ा में देखा है--भारत-वासियों के साथ मिलकर अंग्रेज भी विवेकानन्द की चरणसेवा कर रहे हैं, जूते खोल रहे हैं। इन लोगों ने ठाकुर के विशेष कार्यवश भारत के उद्धार के लिये शरीर धारण किया है। आप लोग यदि स्वामी विवेकानन्द को देखते तो समझ पाते कि स्वामी विवेकानन्द हूबहू उन्हीं की प्रतिच्छवि हैं। ये लोग आजन्म संन्यासी हैं, ठाकुर के उपदेशों में वर्णित चिर होमा पक्षी हैं।... इन्होंने जगत के कल्याणार्थ नव-संन्यास धर्म का प्रवर्तन किया है।"

卐

माँ के सान्निध्य में (२४)

स्वामी ईशानानन्द

(प्रस्तुत संस्मरणों के लेखक माँ सारदादेवी के शिष्य थे। मूल बंगला 'श्रीश्रीमायेर कथा' के द्वितीय भाग से इसका अनुवाद, किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं। –सं.)

एक नये ब्रह्मचारी के कोयलपाड़ा में माँ के पास रहने की इच्छा व्यक्त करने पर माँ ने कहा, "तुम यहाँ रहना चाह रहे हो पर तुम्हें यहाँ रहने से कष्ट होगा। यहाँ पर जीवन बहुत अधिक व्यस्त है। राधू को लेकर इस जंगल में पड़ी हुई हूँ।" लड़के के रहने के लिये जोर देने पर माँ ने कहा, "अच्छा, केदार को कहकर कुछ दिन आश्रम में रहो, फिर देखा जाएगा।" इसी समय जो सेवक राधू का पथ्य तैयार करता था, उसे कुछ दिनों के लिए कलकत्ता जाना पड़ा। माँ ने उस लड़के से पूछा, "बेटा, यह काम क्या तुम कर सकोगे?" उसके राजी होने पर माँ ने कहा, "उसके पास से सब देख समझ लो।" पहले ही दिन जब वह पथ्य तैयार करके माँ के पास ले जा रहा था, तो पथ्य उसके हाथ से गिर कर नष्ट हो गया। तब वह क्या करना उचित है क्या नहीं, यह समझ न पाकर खाली बर्तन लेकर माँ के पास उपस्थित हुआ। उस दिन फिर राधू का भोजन नहीं हो पाया। माँ को नाराजी हुई। बाद में उन्होंने कहा था, "साधु की दृष्टि से तो लड़का अच्छा ही था। फिर भी यहाँ के कामकाज के लिए चुस्त आदमी की आवश्यकता है। पेड़ के नीचे रहनेवाले साधु द्वारा मेरा काम नहीं चलेगा। देखादेखी में कई लोग बहुत से बड़े-बड़े काम कर लेते हैं किन्तु मनुष्य की पहचान उसके प्रत्येक छोटे-छोटे कार्यों में उसकी

श्रद्धा को देखकर होती है।" एक दो दिन के बाद सेवक के वापस लौट आने पर फिर उस लड़के का वहाँ पर रहना नहीं हुआ।

और एक दिन कोयलपाड़ा का एक लड़का पुलिस की नजरबन्दी से छूटकर शाम के समय माँ के पास पहुँचा और उनसे दीक्षा लेने की इच्छा व्यक्त की। वहाँ के आश्रम पर उस समय पुलिस की कड़ी नजर थी। इसलिए आश्रम के अध्यक्ष ने उसे चले जाने के लिए कहा। यह सुनकर माँ मुझसे बोलीं, "अहा, लड़का कितना कष्ट करके व्याकुल होकर आया हैं। तुम यदि आज रात में उसकी किसी के यहाँ रहने की व्यवस्था कर सको, तो कल में उसे सबेरे दीक्षा देकर चले जाने के लिए कह दूँगी।" उनकी इच्छानुसार मैंने उसकी एक जगह रहने की व्यवस्था कर दी।

दूसरे दिन मैं बड़े तड़के माँ के साथ राधू के घर जा रहा था। वह लड़का नहाकर बीच रास्ते में माँ के पास आ खड़ा हुआ। माँ ने मुझे पास के तालाब से थोड़ा पानी लाने के लिए कहा। जब मैं ग्लास में पानी लेकर पहुँचा तो देखता हूँ कि माँ कुछ खोज रही हैं। मैंने पूछा, "क्या आसन ला दूँ?" माँ ने कहा, "रहने दो, जाने की आवश्यकता नहीं। बस थोड़ा सा पुआल ला दो, हम दोनों बैठ जायँ।" मेरे वैसा करने पर मिट्टी के ऊपर पुआल बिछाकर दोनों बैठ गये। माँ ने मुझे जरा दूर चले जाने के लिए कहा और आचमन करके लड़के को दीक्षा प्रदान की।

एक दिन शाम को माँ बातचीत के बीच कहने लगीं, "बेटा, अब मैं और किसी का दोष देख सुन नहीं सकती।

जो होता है सब अपने अपने प्रारब्ध कर्मों के फलस्वरूप होता है। जहाँ पहले शरीर में प्रारब्ध कर्मों के फलस्वरूप हल का फल घुसता, वहाँ कम से कम सुई तो चुभेगी ही। उन लोगों ने मेरे सामने र.... के दोष की बात कही। पर पहले वे लोग सब कहाँ थे? उसने मेरी कितनी सेवा की है। उन दिनों मैं भाइयों के यहाँ धान उबालती थी। भाभियाँ सब छोटी थीं। उस समय वह ठण्ड और वर्षा की परवाह न करके सबेरे से मेरे साथ धान की बड़ी बड़ी हण्डी उतारता था। शरीर उसका कालिख से भर जाता था। अब तो बहुत से लोग भक्त बनकर आ रहे हैं। उस समय मेरा भला कौन था? क्या मैं वह सब भूल सकती हूँ? फिर लोगों का भी भला क्या दोष? मेरी नजरों में पहले लोगों के कितने दोष दिखते थे। बाद में ठाकुर के पास रो रोकर प्रार्थना करने पर कि ठाकुर अब और दोष न देखूँ, तभी दोष देखना दूर हुआ है। मनुष्य का हजार भला करो पर कहीं जरा सी भूल हो जाय तो उसका मुँह उसी समय टेढ़ा हो जाता है। लोग केवल दोष ही देखते हैं, गुण को देखना चाहिए।

जयरामवाटी में माँ एक दिन महापुरुषों के सेवकों में होनेवाली दुर्बुद्धि के बारे में कहने लगीं, "देखो, एक सेवापराध भी होता है। वह यह कि सेवा करते करते अधिकार मिलने पर अहंकार बढ़ जाता है और वह सेव्य को पुतली के समान नचाना चाहता है। उठते, बैठते, खाते सभी में वह कर्ता बन जाता है। सेवा भाव और नहीं रहता। जो खुद के सुख-दुःख को भूलकर उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझे, उसे भला ऐसा क्यों होना चाहिए? फिर तुमने सेवकों के पतन की बात कही।

अनेक महापुरुषों के चारों ओर ऐश्वर्य का भाव रहता है। यही देख बहुतेरे उनकी सेवा करने आते हैं और उसी में मत्त हो जाते हैं। यही उनके पतन का कारण बन जाता है। बोलो तो सही ठीक-ठीक कितने लोग उनकी सेवा कर पाते हैं ?" माँ ने बाद में एक दृष्टान्त देते हुए कहा, "देखो, जब तालाब में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो उसे देख छोटी-छोटी मछलियाँ आनन्द के साथ खूब उछलकूद करती हैं--सोचती हैं कि यह हममें से एक है। पर जब चन्द्रमा अस्त हो जाता है तो उनकी अवस्था पूर्ववत् हो जाती है। उछलकूद के बाद अवसाद की अवस्था आ जाती है। तब कुछ भी समझ में नहीं आता।" मैंने कहा, "केदार महाराज कहते हैं कि गुरु के पास अधिक समय नहीं रहना चाहिए। गुरु का असामान्य आचरण देखकर कई बार शिष्य की श्रद्धा-भक्ति कम हो जाती है।" माँ हँसते-हँसते कहने लगीं, "बेटा, तुम लोग उन सब बातों से मन को उद्विग्न मत करना। ऐसा होने से फिर मेरा काम कैसे चलेगा ? मेरे प्रति ऐसी भगवद्-बुद्धि न रखकर मानवीय बुद्धि रखते हुए जो मैं कहती हूँ उसे देख सुनकर जैसा कामकाज करते रहे हो वैसा किये जाओ। तुम लोगों को कोई भय नहीं।"

एक दिन भक्तों के बहुत से पत्र आये थ। शाम के समय मैंने उन्हें माँ को पढ़कर सुनाया। पत्र सुनकर माँ कहने लगीं, "कितने लोगों ने कितनी सब इच्छाएँ लिखी हैं, देखा तुमने ? कोई कहता है, 'इतना प्रार्थना जप, ध्यान करता हूँ कुछ भी नहीं हो रहा है।' फिर कोई संसार की नाना प्रकार की अशान्ति, अभाव, रोग, शोक आदि की बात लिखता है। मुझसे और यह सब सुनना

नहीं हो पाता। मैं तो ठाकुर से कहती हूँ, 'ठाकुर, तुम्हीं इनके इहलोक और परलोक की रक्षा करो।' मैं माँ होकर और क्या कह सकती हूँ ? उन्हें ठीक-ठीक कितने लोग चाहते हैं ? उनमें व्याकुलता कहाँ ? एक ओर तो इनकी भक्ति और आग्रह का भाव और दूसरी ओर जहाँ थोड़े से भोग, पदार्थ मिल जायँ तो उसी में सन्तुष्ट। कहते हैं उनकी कैसी दया है।' कहते हैं, 'राधू कैसी है ?' मेरा मन भिगाने के लिए राधू की खोज-खबर आगे। मेरी आँखें मुँद जाने पर राधू की ओर कोई फिरकर भी नहीं देखेगा।" नवासन की भाभी कहने लगी, "आपके लिए तो सभी लड़के समान हैं। जो विवाह करने के लिए आपसे राय माँगता है उसे आप विवाह की अनुमति देती हैं और जो संसार का त्याग करना चाहता है उसे उसी प्रकार त्याग की प्रशंसा कर त्याग का उपदेश देती हैं। आपके लिए तो उचित है कि जो श्रेष्ठ है उसी मार्ग में सबको ले जाना।" माँ कहने लगीं, "जिसकी भोग वासना प्रबल है वह क्या मेरे मना करने से मानेगा ? और जो अत्यन्त सत्कर्मों के फलस्वरूप माया के इस खेल को समझने में समर्थ हुआ है तथा जिसने भगवान को ही एकमात्र सार समझा है, उसकी क्या मैं कुछ भी सहायता न करूँ ? संसार में दुःख का क्या कोई अन्त है ?"

नलिनी दीदी आदि कुछ लोग आपस में तर्क करने लगीं और कुछ देर बाद माँ से पूछा, "अच्छा बुआ, बताओ कौन सा आक्षेप अच्छा है ?" माँ ने कहा, "आक्षेप में भी भला कोई अच्छा और बुरा होता है ?" इसी प्रकार कुछ बातचीत के बाद बोलीं, "फिर भी धनी होने का

का आक्षेप ही अच्छा है। किसी व्यक्ति से यदि कहा जाय, 'तुम बड़े धनवान हो' तो वह भले यह सुनकर चेहरे में दीनता अथवा असंतोष का भाव क्यों न दिखाये पर भीतर ही भीतर उसे बड़ी ख़ुशी होती है।" यह कह कर माँ बोलीं, "यह तो हुआ। अच्छा तुम लोग कहो तो सही——भगवान के पास किस वस्तु की प्रार्थना करनी चाहिए?" नलिनी दीदी ने कहा, "क्यों बुआ, ज्ञान, भक्ति जिससे मनुष्य संसार में सुख से रहे, यही सब प्रार्थना करनी चाहिए।" माँ ने कहा, "एक वाक्य में कहूँ तो उनसे निर्वासना की प्रार्थना करनी चाहिए, क्योंकि वासना ही समस्त दुःखों की जड़ है तथा वही बार-बार जन्म-मृत्यु का कारण और मुक्ति मार्ग में बाधक है।"

सावन के महीने में माँ राधू को लेकर कोयलपाड़ा से जयरामवाटी पहुँचीं। तब उनके साथ हम लोग १५-२० व्यक्ति थे। सबके खाने-पीने आदि सब विषयों में माँ स्वयं ही देखभाल करतीं। एक दिन बातचीत के बीच माँ मुझसे कहने लगीं, "बेटा, उस दिन केदार ने मुझसे कैसी बात कह दी। मैं जानती थी कि उसका मन बड़ा उदार है। उसके जैसे व्यक्ति के लिए ऐसी बात कहना बिल्कुल उचित नहीं हुआ। यह कहकर माँ ने सारी घटना कह सुनायी. "उस दिन सवेरे केदार ने प्रणाम करके कहा, 'माँ, ये लड़के लोग पहले मुझे बहुत मानते थे, पर अब इनके पर निकल आये हैं, मेरी बात सब समय मानना नहीं चाहते। फिर शरत् महाराज अथवा आपके पास जब ये आते हैं तो आप लोग इन्हें प्रेम दिखाकर अपने पास रख लेती हैं। यहाँ अच्छे खाने-पीने की सुविधा भी इन्हें मिल जाती है। आप लोग यदि

इन्हें यहाँ ठहरने न दें और समझा-बुझाकर वापस भेज दें तभी मेरी बात सुनेंगे।' मैंने कहा, "यह क्या जी? यह सब क्या कह रहे हो? प्रेम ही तो हम लोगों की मुख्य वस्तु है। प्रेम से ही तो उनका (ठाकुर का) संसार निर्मित हुआ है। फिर मैं माँ हूँ और मेरे सामने तुम बच्चों के खाने-पीने को लेकर उलाहना कर रहे हो? अहा, इनके लिए मैं ठाकुर के पास कितना रोई हूँ, प्रार्थना की हूँ। तभी तो आज उनकी कृपा से मठ आदि सब हुआ है। ठाकुर के देहत्याग के पश्चात् संसार त्याग करके ये लड़के कुछ दिन एक स्थान में एक साथ जुटे थे। बाद में एक-एक करके स्वतन्त्र रूप से इधर-उधर घूमने के लिए निकल गये। तब मेरे मन में बड़ा दुःख हुआ। मैं ठाकुर के सामने यही कहकर प्रार्थना करने लगी, 'ठाकुर, तुम आये और कुछ लोगों को लेकर लीला करके आनन्द करके चले गये और इस तरह क्या सब खतम हो गया? तब तो इतना कष्ट करके आने की क्या आवश्यकता थी? काशी, वृन्दावन में तो मैंने देखा है कितने ही साधु भिक्षा करके खाते हैं और पेड़ों के नीचे निवास करते हैं। ऐसे साधुओं का तो अभाव नहीं है। तुम्हारे नाम पर सब कुछ त्याग कर मेरे लड़के दो दाने अन्न के लिये इधर-उधर भटकते रहेंगे यह मैं नहीं देख पाऊँगी। मेरी प्रार्थना है कि तुम्हारे नाम को लेकर जो भी निकलें उनके लिए मोटे अन्न-वस्त्र का अभाव न हो। वे लोग तुम्हें तथा तुम्हारे भाव और उपदेश को लेकर एक साथ रहें तथा इस संसार की ज्वाला से दग्ध लोग उनके पास आकर तुम्हारी बातें सुनकर शान्ति लाभ करें। इसीलिए तो तुम्हारा आगमन हुआ है। उनका

इधर-उधर घूमना देखकर मेरे प्राण व्याकुल हो उठे हैं।' इसके बाद से नरेन ने धीरे-धीरे यह सब किया ।"

जयरामवाटी में दुर्गापूजा के समय अष्टमी के दिन एक भक्त टोकनी में कुछ कमल के फूल लेकर पहुँचा । दूर से देखकर उसने फूल समेत हाथ उठाकर मुझे नमस्कार किया । माँ दूर से यह देख रही थीं। उन्होंने बाद में मुझसे कहा, "उन फूलों से अब ठाकुर की पूजा नहीं होगी । उन्हें फेंक दो ।"

हम दो लोगों को बिना किनारवाली धोती पहने देख माँ ने कहा, "यह क्या ! बिना किनार की धोती क्यों पहने हो ? तुम लोग लड़के हो, किनारवाली धोती पहनना । नहीं तो मन में बूढ़ेपन का भाव आ जाता है । मन में सदा उत्साह रहना चाहिए ।" यह कर उन्होंने बक्से से दोनों के लिये दो धोती निकालकर दी ।

उस दिन संध्या के कुछ बाद ही सन्धि-पूजा थी । अनेकों को माँ के पैरों में कमल के फूल से पुष्पांजलि देते हुए देखकर माँ ने कहा, "और फूल ले आओ, राखाल, तारक, शरत्, खोका, योगेन, गोलाप—इन सबका नाम बोलकर फूल दो । मेरे परिचित अपरिचित सभी बच्चों की ओर से फूल दो ।" मेरे वैसा करने पर माँ हाथ जोड़कर ठाकुर की ओर देखती हुई काफी देर तक स्थिर भाव से बैठी रहीं और बोलीं, "सभी का इहलोक और परलोक में मंगल हो ।"

केदार महाराज एक दिन सबेरे जयरामवाटी में माँ के पास बैठे हुए कहने लगे, "माँ हमारे दातव्य चिकित्सालय में ऐसे लोग भी दवाई लेने चले आते हैं, जिनकी अवस्था अच्छी है । हम लोगों ने तो इसे गरीबों के लिये

खोला है। ऐसे सब लोगों को दवाई देना क्या उचित है?" माँ कुछ देर रुककर बोलीं, "बेटा, इस क्षेत्र के तो सभी गरीब हैं। वे जानबूझकर भी यदि प्रार्थी बन कर आते हैं तो उन्हें सामर्थ्यानुसार अवश्य देना। जो प्रार्थी है वही गरीब है।"

केदार महाराज ने पूछा, "माँ, इस बार क्या ठाकुर सर्वधर्म-समन्वय के रूप में एक नयी वस्तु देने के लिए आये थे?" माँ ने कहा, "देखो बेटा, मुझे यह नहीं लगता कि उन्होंने जो सब धर्म मतों की साधनाएँ की थीं, वह समन्वय भाव प्रचार करने की दृष्टि से की थी। वे तो हमेशा भगवद्भाव में विभोर रहते थे। ईसाई, मुसलमान तथा वैष्णव आदि जिस जिस भाव से उनका भजन करके वस्तु लाभ करते हैं, वे उसी भाव से साधना करके विभिन्न लीलाओं का आस्वादन करते थे। उसमें दिन रात कैसे बीत जाता था उन्हें इसका कोई होश नहीं रहता था। पर बात यह है बेटा, इस युग में उनका विशेषत्व है त्याग। इस प्रकार का स्वाभाविक त्याग और क्या किसी ने देखा है? सर्वसमन्वय भाव के बारे में जो तुमने कहा वह भी ठीक है। अन्य अवतारों में एक भाव की प्रधानता होने से अन्य भाव दब से गये थे।"

उस दिन संध्या के बाद रोज की भाँति रोटी आदि बनाकर मैं भक्तों की चिट्ठी पढ़कर सुनाने के लिए माँ के कमरे में पहुँचा। एक भक्त महिला माँ को प्रायः ही पत्र लिखतीं—स्तव, स्तुति आदि से परिपूर्ण। उनके पत्र का मर्म माँ को सुनाने पर वे कहने लगीं, 'देखो, मैं बहुत बार सोचती हूँ कि मैं तो उन्हीं राम मुखुज्ये की लड़की

हूँ, मेरी समवयस्का और भी स्त्रियाँ तो जयरामबाटी में है। उनमें और मुझमें भला क्या अन्तर है ? कहाँ-कहाँ से सब भक्त आकर प्रणाम करते हैं। पूछने पर सुनती हूँ कोई हाकिम है, कोई वकील है। ये लोग ही इस प्रकार क्यों आते हैं ?" यह कहकर माँ चुप हो गयीं। कुछ देर बाद मैंने पूछा, "अच्छा, आपको सब समय क्या अपना स्वरूप स्मरण नहीं रहता है ?" माँ ने कहा, "वह क्या सब समय रह सकता है ? वैसा होने से क्या यह सब कामकाज करना सम्भव है ? फिर भी कामकाज के बीच में जब इच्छा होती है तब सामान्य चिन्तन से दप् करके उद्दीपना होती है और महामाया का खेल पूरी तरह समझ में आ जाता है।" एक ने कहा, "कहाँ माँ, हम लोग तो इतना प्रयास करके भी कुछ भी नहीं समझ पाते हैं।" माँ ने कहा, "होगा जी होगा, तुम लोगों को कोई चिन्ता की बात नहीं। समय आने पर सब होगा।" उस दिन बड़ी रात तक बातचीत चलती रही। मैंने कहा, "माँ, केदार महाराज कहते हैं, कि आश्रम के कार्यों में खूब परिश्रम करो, इससे ही जो होना होगा अपने आप हो जायेगा।" माँ ने कहा, "कर्म तो अवश्य ही करना चहिए। कर्म से मन अच्छा रहता है। पर जप, ध्यान, प्रार्थना भी विशेष रूप से आवश्यक है। कम से कम सवेरे शाम एक बार बैठना ही चाहिए। वह मानो नाव की पतवार है। संध्या के समय थोड़ी देर बैठने से सारे दिन अच्छा बुरा क्या किया, क्या नहीं किया इसका चिन्तन हो जाता है। फिर कल के मन की आज के मन से तुलना करनी चाहिए। बाद में जप करते करते इष्ट मूर्ति का ध्यान करना चाहिए। ध्यान में पहले

चेहरा दिखायी देता है किन्तु पैर से लेकर सभी अंगों का साक्षात् ध्यान करना चाहिए। कर्म के साथ प्रातः संध्या जप-ध्यान नहीं करने से क्या कर रहे हो क्या नहीं यह किस प्रकार समझ पाओगे ?" मैंने कहा, "फिर कोई कोई कहते हैं कि कर्म करने से कुछ नहीं होगा, हमेशा जप ध्यान कर सकने से होगा।" माँ ने कहा, "उन लोगों ने कैसे समझ लिया कि क्या करने से होगा और क्या करने से नहीं ? कुछ दिन थोड़ा सा जप-ध्यान कर लेने से ही क्या सब हो गया ? महामाया जब तक रास्ता नहीं छोड़ देती तब तक कुछ नहीं होने का। उस दिन तुमने देखा तो, कैसे जबरदस्ती जप-ध्यान करते करते एक आदमी ने अपना दिमाग ही बिगाड़ डाला ? यदि दिमाग खराब हो जाय तो फिर रहेगा क्या? वह तो स्क्रू के पेंच के समान है। पेंच यदि थोड़ा सा ढीला हो जाय तब या तो आदमी पागल होगा या महामाया के फँदे में पड़कर स्वयं को बुद्धिमान समझकर कहेगा—मैं मज़े में हूँ। और पेंच यदि उल्टी दिशा में कसा जाय तो वह ठीक रास्ते पर चलकर शान्ति और आनन्द प्राप्त करेगा। हमेशा उनका स्मरण-मनन करते हुए उनसे प्रार्थना करनी चाहिए कि प्रभु मुझे सद्बुद्धि दो। सब समय भला कितने लोग जप-ध्यान कर पाते हैं ? शुरू शुरू में थोड़ा बहुत होता है। बाद में न...के समान बैठे रहने से नीचे की गरमी सिर पर पहुँच जाती है (अहंकारी हो जाता है)। पेड़-पत्थर की चिन्ता करके अशान्ति में डूब जाता है। मन को खुला न छोड़कर काम में लगाना बहुत अच्छा है। मन खुला रहने से ही सारा गोलमाल होता है। मेरे नरेन ने यही सब देखकर ही तो निष्काम कर्म का प्रवर्तन किया। "माँ ने न... को

लक्ष्य करके फिर कहा, "देखो न उसका मन बैठे-बैठे कैसा अशुद्ध हो गया है। केवल शुचिता की सनक बढ़ रही है। और सब समय अशान्ति की शिकायत। इतनी अशान्ति क्यों ? इतना देख सुनकर भी होश नहीं आता ?"

दूसरे दिन सबेरे दस-ग्यारह बजे माँ घर के सदर दरवाजे के चबूतरे पर बैठी थीं। हम लोग बैठकखाने में थे। काली मामा और बरदा मामा में रास्ते को लेकर आपस में कहा सुनी होने लगी जो क्रमशः बढ़ते-बढ़ते मारपीट की स्थिति में जा पहुँची। माँ अपने को न सम्भाल पा उनके पास पहुँची। वे एक बार एक से कहती हैं--'तेरी गलती है' कभी दूसरे का हाथ पकड़-कर खींचती हैं। पूरी तरह से वे उसमें डूब गईं। इस बीच हम लोगों के वहाँ जाकर बीच-बचाव करने से झगड़ा कुछ शान्त हुआ और वे लोग बकते बकते अपने अपने घर चले गये। माँ भी क्रोध में भरीं घर के भीतर आकर बैठीं। बैठते ही हँसने लगीं और कहने लगीं, "महामाया की कैसी माया है जी ! अनन्त पृथ्वी पड़ी हुई है, यह भी पड़ी रहेगी ! जीव इतनी सी बात भी नहीं समझ पाता है।" यह कहकर माँ हँसते हँसते बेहाल होने लगीं--उनकी हँसी रुकने का नाम नहीं लेती।

(क्रमशः)

卐

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(भगवान श्रीरामकृष्ण के एक प्रमुख शिष्य स्वामी तुरीयानन्द को भी अमेरिका में अपने वेदान्त-प्रचार में सहायता करने को स्वामी विवेकानन्द अमेरिका ले गये थे। वहाँ से लौटने के बाद उन्होंने अपना अधिकांश जीवन तपस्या में ही बिताया। बंगला और अंग्रेजी में उनके लगभग ३०० पत्र उपलब्ध हैं, जो बड़े ही ज्ञानगर्भित, प्रेरणादायी तथा साधकोपयोगी हैं। उन्हीं में से चुने हुए अंशों के अनुवाद यहाँ क्रमशः प्रकाशित किये जा रहे हैं।—सं.)

—२३—

जिस प्रकार बीज के भीतर वृक्ष की भावी उत्पत्ति, वृद्धि तथा फल-फूल आदि की सम्भावना निहित रहती है, उसी प्रकार जिस 'शब्द' की सहायता से साधक में आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होकर उसे चरम उत्कर्ष तक पहुँचाती है, उसी को बीजमन्त्र कहते हैं।

एक महात्मा ने कहा है—"मन ! तू खेती करना नहीं जानता। मानव-जीवन रूपी इतनी अच्छी जमीन परती ही पड़ी रह गयी। यदि तू खेती करता तो इसमें सोना उपज सकता था। (अब भी) तू इसमें गुरु का दिया हुआ बीज बोकर, भक्ति-जल से सिंचाई कर दे। (चारों तरफ) 'काली' नाम की बाड़ भी लगा देना। इससे फसल को कोई नुकसान नहीं पहुँच सकेगा, क्योंकि मुक्तकेशी माँ की बाड़ इतनी मजबूत है कि स्वयं यमराज भी उसे पार नहीं कर सकते। यदि तुमसे अकेले न बने तो रामप्रसाद* को भी साथ ले लेना।"

मानव-जीवन की जमीन में गुरुदत्त बीज बोना, भक्ति-वारि से उसे सींचना, काली-नाम की बाड़ लगाना

---

* बंगाल के प्रसिद्ध भक्त कवि रामप्रसाद सेन।

और इस प्रकार साधन करते हुए अपने आपको पूर्णतः समर्पित कर डालना––यही संकेत है। ठाकुर कहते थे–'रामप्रसाद को भी साथ ले लेना' का अर्थ यह है कि अहं-बुद्धि को भी अर्थात् इस बोध को भी कि मैं रामप्रसाद हूँ या अमुक हूँ, भूल जाना। पूर्णरूपेण तन्मयता लाभ करने में ही साधना की इतिश्री है।

विविध देवी-देवता उस अखण्ड सच्चिदानन्द की ही भिन्न-भिन्न शक्तियाँ या प्रकाशित मूर्तियाँ हैं, जो साधक की अभीष्ट-पूर्ति के लिये भिन्न-भिन्न भावों में व्यक्त हुई हैं; अतः उनके बीजमन्त्र भी अलग-अलग हैं। तन्त्र-शास्त्र में इस विषय पर विशेष विवरण मिलता है।

हिन्दुओं के सारे मत 'वेद' पर आश्रित हैं, अतः पुराण, तन्त्र आदि कोई भी मत अवैदिक नहीं है। इन सबकी नींव वेद में है। साधकों को समझने में सुविधा हो, इस दृष्टि से ऋषियों ने विविध प्रकार से व्याख्या की है तथा साधन-प्रणालियों का निर्माण किया है। शास्त्रकार-गण कहते हैं कि उनके प्रतिपाद्य विषयों का वेद में उल्लेख है। सम्पूर्ण वेद का अध्ययन किये बिना ही यदि कोई कहे कि 'यह सब वेद में नहीं है', तो अनुचित होगा। जब समस्त शब्दों की उत्पत्ति प्रणव से ही हुई है तो स्पष्ट है कि सभी बीज प्रणवात्मक ही हैं। कहते हैं कि अनाहत नाद सुनाई पड़ता है, बीजमन्त्र ज्योति-अक्षरों में दीख पड़ते हैं और कभी कभी उनकी ध्वनि भी सुनने में आती है। बीज प्रणव में विलीन हो जाता है या नहीं, मैं नहीं जानता, पर सुना है कि मंत्र और देवता अभिन्न हैं। मन मानो देवता के शरीर का अधिष्ठान स्वरूप है। केवल प्रश्न के द्वारा इन चीजों का सिद्धान्त स्थिर नहीं होता।

इसके लिये साधना करनी पड़ती है और तब गुरुकृपा से क्रमशः इनकी उपलब्धि होती है। ठाकुर कहते थे, "केवल सिद्धि-सिद्धि † रटने से नशा नहीं होता। सिद्धि लाकर उसे धोकर पीसना पड़ता है, फिर उसे पीने पर तब कहीं नशा चढ़ता है। तब 'जय काली जय काली' कहते हुए आनन्द करना।" शास्त्र में भी तर्कवाद को अच्छा नहीं कहा गया है। हाँ, समझने के लिए अवश्य थोड़े-बहुत प्रश्न किये जा सकते हैं, परन्तु साधना करते-करते प्रश्नों का स्वतः ही लोप हो जाता है। बिना साधना प्रश्नों का अन्त मिलना असम्भव है।

जिस प्रकार प्रश्न भीतर से उठते हैं, उसी प्रकार साधना के द्वारा तत्त्वज्ञान हो जाने पर भीतर ही सारे सन्देहों का निराकरण हो जाता है। इसी को शान्ति अथवा विश्रान्ति की उपलब्धि कहते हैं। भगवत्कृपा से जिसे इसकी उपलब्धि होती है, वही जान पाता है। नहीं तो प्रश्नों के द्वारा किसी को भी उस अवस्था की प्राप्ति नहीं होती। यही शास्त्र का सिद्धान्त है। 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः" * आदि सैकड़ों शास्त्रवाक्य इसके प्रमाण हैं। अच्छी तरह लग जाओ। प्रभु की कृपा अवश्य होगी और तब 'जय काली जय काली' कहते हुए केवल आनन्द करना।

—२४—

भगवान का चिन्तन कभी भी मत छोड़ना। आनन्द मिले अथवा न मिले, ध्यान-धारणा नियमित रूप से करते

---

† यहाँ पर श्लेष है। सिद्धि शब्द का दूसरा अर्थ है भाँग।

* वेद का अध्यापन करने मात्र से इस आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता। कठोपनिषद १/२/२३

रहना। निष्ठापूर्वक यदि इस प्रकार कर सको, तो आनन्द इत्यादि सब होगा। व्यासदेव कहते हैं कि पित्तदोष होने पर चीनी अच्छी नहीं लगती, परन्तु यदि कोई प्रतिदिन निष्ठा के साथ चीनी खाता रहे तो उसका पित्तदोष दूर हो जाता है और क्रमशः उसे चीनी में स्वाद आने लगता है। ठीक उसी प्रकार अविद्या दोष के कारण भगवद्-भजन में रुचि नहीं होती, परन्तु निष्ठा एवं यत्न के साथ उनका नाम-जप तथा ध्यान-धारणा करने से अविद्या दोष दूर हो जाता है और मन में भगवत्प्रेम का उदय होता है। अतः ध्यान-भजन से कभी विरत न होना, बल्कि खूब प्रीति और यत्न के साथ किये जाना। बाद में उसी में आनन्द पाओगे।

फल की ओर इतनी दृष्टि क्यों रखते हो? अपना काम किये जाओ। 'कुछ तो हुआ नहीं' – आदि सब कहने से क्या होगा? इसमें कोई लाभ है क्या? बल्कि चुप-चाप कर्म किये जाओ तो समय आने पर अपने आप ही फल मिलेगा। रामप्रसाद कहते हैं––

"कर्मे जेनो हबि चाषा।
मनेर मतन करो जतन
रतन पाबि अति खासा॥*

और क्या कहूँ? धैर्य की जरूरत है। क्या बीज बोने के साथ ही फल पैदा हो जाता है? धैर्यपूर्वक बीज की रक्षा करनी होगी, सिंचाई करनी होगी, निराई करनी होगी, कीट-पक्षियों से उसे बचाना होगा, गाय-बकरियों

* कर्म में किसान के समान बनो। पूरी लगन के साथ मेहनत करने पर अति उत्तम रत्न की प्राप्ति होगी।

से सुरक्षा के लिये उसके चारों ओर बाड़ लगाना होगा। इतनी परेशानियों के बाद कहीं फसल तैयार होती है।

—२५—

अविद्या ही काम, क्रोध आदि का क्षेत्र है। पातंजल योग में अविद्या की परिभाषा करते हुए कहा गया है—
"अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या"*—
अर्थात् अनित्य संसार में नित्यत्व बोध, अशुचि शरीरादि में शुचिबोध, दुखमय भोगादि में सुखबोध और स्त्री-पुत्रादि जो अपने नहीं है उनमें आत्मीयताबोध—ये सब अज्ञान के द्वारा होते हैं और इसी का नाम अविद्या है। यह अनादि है, कब प्रारम्भ हुई इसका पता लगाने का कोई उपाय नहीं; यह अनन्त है अर्थात् भगवान की कृपा से जब तक ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक स्थायी रहती है, नष्ट नहीं होती। यह अविद्या ही हमें भगवान की ओर अग्रसर नहीं होने देती। तथापि भगवान कहते हैं कि जो मेरी शरण लेता है, वह इस अविद्या को पार कर सकता है—
"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।"† उनकी शरण लेकर उन पर निर्भर रहना—यही कर्तव्य है।

प्रेमाभक्ति सबके भीतर है। काम-कांचन का आवरण दूर होते ही वह प्रकाशित हो उठती है—स्वामीजी‡ की यह वाणी अक्षरश: सत्य है। आवरण दूर करने के प्रयास को ही साधना कहते हैं और इस आवरण के दूर होते ही कुलकुण्डलिनी जाग उठती है। विभिन्न भावों में मन को उलझाने से कुछ न होगा। एक ही भाव में निष्ठा

* पातंजलयोगसूत्र, साधनपाद/५
† गीता ७/१५
‡ स्वामी विवेकानन्द

रखो कि उसी के द्वारा भगवद्भक्ति लाभ करूँगा या मुक्त होऊँगा। इस प्रकार निश्चय के साथ लगे रहना पड़ता है, तब होता है।

मैं तुमसे बारम्बार,ये ही बातें कह रहा हूँ, पर तुम्हारी समझ में नहीं आता। फिर मैं क्या करूँ? तुम्हारी जो इच्छा, कर सकते हो। साधना का क्रम, गुरु-निर्वाचन आदि तुम स्वेच्छा से करो। इस विषय में मुझसे फिर प्रश्न न करना, इनका उत्तर मैं कई बार दे चुका हूँ।

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥*

अर्थात् श्रद्धावान्, भगवत्-परायण, जितेन्द्रिय व्यक्ति ही ज्ञान लाभ का अधिकारी होता है और ज्ञानोपलब्धि के पश्चात् शीघ्र ही पराशान्ति प्राप्त करता है। परन्तु--

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥†

—जो कहने पर भी नहीं समझता, जिसमें श्रद्धा का अभाव है, जो अत्यन्त संशयवादी है, उसे ज्ञान होना दुष्कर है, उसके इहलोक और परलोक दोनों ही नहीं हैं तथा उसे सुखलाभ भी नहीं होता--यह है भगवान की वाणी। अब तुम्हारी जैसी इच्छा हो करो।

–२६–

तुमने ठीक ही लिखा है कि जब तक समाधि-लाभ नहीं हो जाता, तब तक सारे सन्देहों का अवसान नहीं होता। केवल पढ़कर या सुनकर, बिना प्रत्यक्षानुभूति किये पूर्ण रूप से सन्देहरहित नहीं हुआ जा सकता। तथापि विचार के द्वारा बहुत कुछ-उपलब्धियाँ होती हैं। श्रद्धासहित शास्त्र-पाठ उपकारी है। और सत्संग की तो बात ही क्या है!

* गीता ४/३९ † गीता ४/४०

-२७-

मनुष्य सामान्यतः बड़ा स्वार्थपर दीख पड़ता है। स्वयं ही कोई प्रयास करने को तैयार नहीं है, कोई दूसरा ही उसके लिए कर दे तो अच्छा है! विशेषकर अध्यात्म के मामले में तो सभी चाहते हैं कि अभी सिद्ध हो जायँ-- परन्तु परिश्रम भला कौन करना चाहता है? वे लोग कभी सोचते ही नहीं कि उनके पूर्वकृत् कितने अनर्थ कर्म संचित पड़े हैं, जो आवरण के रूप में उनके आत्म-स्वरूप को ढँके रहते है। काफी प्रयत्न के द्वारा उनके अपसारित होने पर, तब कहीं ज्ञान या भक्ति का उदय होता है। परन्तु सब यही हठ करते हैं कि अभी क्यों नहीं हो जाता?

रामकृष्ण मिशन आश्रम
विवेकानन्द विद्यापीठ, नारायणपुर के
आदिवासी छात्रों का अभूतपूर्व कीर्तिमान ।

यह केन्द्र रायपुर के रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम की उपशाखा के रूप में २ अगस्त १९८५ ई० को बस्तर जिले के नारायणपुर में प्रारम्भ किया गया था । १ अप्रैल १९९० ई० से यह रामकृष्ण मिशन के एक स्वतंत्र केन्द्र के रूप में परिचालित हो रहा है ।

इस केन्द्र द्वारा चलाये जा रहे आवासीय 'विवेकानन्द विद्यापीठ' के आदिवासी छात्रों ने पिछले कई वर्षों के समान ही इस वर्ष की परीक्षा में भी प्रशंसनीय सफलता पायी है ।

काँकेर शिक्षा जिला की प्राथमिक प्रमाणपत्र परीक्षा में इस वर्ष (१९९१ ई०) विद्यापीठ के कुल १९ छात्रों ने भाग लिया था, जिसमें हलबा जनजाति के श्री हरिशंकर ९३.५% अंक पाकर पूरे जिले में प्रथम स्थान के अधिकारी हुए । उच्च प्रथम श्रेणी में पास होने वाले सभी छात्रों में से १८ को प्रावीण्य सूची में स्थान मिला । निम्नलिखित स्थान हमारे छात्रों को मिले—पहला, दूसरा (२); तीसरा (२), चौथा (२), सातवाँ, नवें से पन्द्रहवें तक, सत्रहवाँ; बीसवाँ तथा चौबीसवाँ ।

बस्तर जिले की माध्यमिक शाला प्रमाणपत्र परीक्षा में भी विद्यापीठ के सात छात्रों की टोली बैठी थी । इनमें से सभी उच्च प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए तथा छह को प्रावीण्य सूची में स्थान मिला । गोंड बालक श्री उमराज जिले में प्रथम आया । इसके अतिरिक्त दूसरा, तीसरा, चौथा, छठाँ और सातवाँ स्थान भी विद्यापीठ के छात्रों के अधिकार में आया ।